श्री मोहन लाल जैन आगमसाहित्य माला पु० २

तत्त्व-चिन्तामणि

[नव तत्त्व]

(भाग १)

लेखक

श्री वर्द्ध० स्था०-जैन श्रमण संघीय

पं० प्रा० मंत्री प० रत्न श्री शुक्लचन्द्र जी महाराज

सम्पादक.—

मुनि सुमन कुमार

प्रकाशक —

पूज्य श्री काशी राम स्मृति ग्रन्थमाला

अम्बाला शहर (पंजाब)

प्रकाशक—
चौ० विलायती राम जैन
अम्बाला शहर

सर्वाधिकार सुरक्षित

वीर सं० २४८७	तृतीय प्रवेश	विक्रम सं० २०१८
मोहन सं० २६	एक सहस्र	ईस्वी १९६१

मूल्य ७५ न. पै.

मुद्रक—
जैन प्रिंटिंग प्रेस,
अम्बाला शहर
(पंजाब)

प्रकाशकीय निवेदन

आज तत्त्व-चिन्तामणि पुस्तक को प्रकाशित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह महाराज श्री के अथक परिश्रम का सुफल है जिन्होने इस का तीसरी बार सम्पादन कर ज्ञान हितार्थ प्रकाशन किया है। पहले की अपेक्षा यह पुस्तक अधिक सरल, विस्तृत एवं उपयोगी बन पडी है जिससे साधारण जिज्ञासुओ की उत्कण्ठा शात हो सकेगी। अत हम महाराज श्री जी के अत्यन्त आभारी है।

साथ ही मै उन महानुभावो का धन्यवाद करते हुए आभार मानता हूं कि जिन्हो ने इस के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग दिया है—

१. लाला हरगोपाल विजय कुमार जैन (जेजो वाले) नवा शहर।
२. लाला पन्नालाल दिवान चन्द " " "
३. लाला काशीराम गोकलचन्द " (कसूर वाले) बगा
४. लाला मेहर चन्द जैन सिनेमा वाले बगा
५ ला० भानामल खरैतीलाल जैन अम्बाला शहर।

मुनीलाल जैन
मन्त्री
पूज्य श्री काशीराम स्मृति ग्रन्थमाला
अम्बाला शहर

पहले इधर !

प्रस्तुत पुस्तक क्या है? यह तो बताने की आवश्यकता ही ही रह जाती, क्यो कि इस के नाम मे ही स्पष्ट है। फिर भी इस सम्बन्ध मे परिचय दे दू वह यू है—

यह पुस्तक जैन धर्म के उन मुख्य तत्त्वों की परिचायिका है जिन के बिना ज्ञान के जैन दर्शन का समझना समझाना नितान्त असंभव है। ससार मे दो ही तत्त्व दृष्टिगोचर होते है चेतन और जड। किन्तु इन के विषय मे एक मान्यता नही अनेक प्रचलित है, किन्तु जैन धर्म का इस के सम्बन्ध मे क्या दृष्टि कोण है। यह पुस्तक सक्षेप मे ही स्पष्ट करेगी। अथवा यों कहे कि उक्त तत्त्वों का समन्वयात्मक और वास्तविक रूप यह प्रस्तुत करेगी केवल आंशिक रूप नही।

ज्ञान की दृष्टि से तो यह आवश्यक है ही किन्तु चारित्र की दृष्टि मे भी जीवादि तत्त्वो का परिज्ञान अत्यावश्यक है क्यो कि जो जीव विण जाणई अजीवे वि··· · ····। तो सयमी क्या बन सकेगा? अत धर्म, दर्शन के जिज्ञासु विद्यार्थी एव साधना मार्ग के साधको के प्राथमिक ज्ञान के लिए पूर्व पुरुषो ने ऐसी सक्षेप एव मौखिक ज्ञान की परम्परा निश्चित की थी। जिस के बल पर आगे गहन ज्ञान को प्राप्त कर सके।

इसी परम्परा की रक्षा के लिए एक नही अनेको तत्त्व ज्ञान कराने वाली पुस्तक प्रकाशित होती हैही है और हो रही हैं उन की श्रेणी मे एक यह भी है।

प्रस्तुत प्रकाशन—

पूर्व प्रकाशनो की अपेक्षा इस प्रकाशन मे थोडा सा अन्तर है, और वह यह कि इस बार कण्ठस्थ करने वाली सामग्री के साथ २

उन के अर्थ और सम्बन्धित सक्षिप्त का विवेचन भी दिया गया है। जिससे पठित पारिभाषिक शब्दो का अर्थ समझ आ सकेगा। और साथ ही नव-तत्त्व का संकलन शास्त्रीय उद्धरण स्थान, एव यथा-स्थान पाठान्तर भी दिये है, तथा पारिभाषिक शब्दो के English words भी है।

इस मे अधिक व्याख्या न करते हुए 'परिभाषा' प्रकरण के नाम से प्रत्येक के प्रकरण के पीछे जोडा है। कण्ठस्थ करने वाले पाठ सक्षिप्त एव हिन्दी मे भिन्न अक्षरो मे, दिये है और साथ ही क्लिष्ट शब्दो जिन का उच्चारण सस्कृत हिन्दी मे और भी दुरुह हो गया है तो उन के लिए नीचे Foot note मे प्राकृत पाठ भी दे दिये है।

इस बार 'जैन धर्म मुख्य तत्त्व-चिन्तामणि' पुस्तक को तीन भागो मे बाट दिया गया है—पच्चीस बोल पहले भाग मे, नव-तत्त्व दूसरे भाग मे, छब्बीस द्वार तीसरे भाग मे और तीनो का सम्पादन प्रकाशन एक ही पद्धति से किया गया है। इस का मूल कारण यही था कि पर्यटक विद्यार्थियो जोकि पद यात्रा करते है, तथा जो अधिक भार नही उठा सकते, की सुविधा के लि ।

निवेदन—

पूज्य मुनिराजो एव आर्याओ से एक विनम्र निवेदन करू गा कि वे विद्यार्थी को अपनी मौखिक प्रणाली से इस का ज्ञान न कराये क्योकि उस मे भाषा का अन्तर पड जाने से भाषा-सौंदर्य और प्रणाली गलत हो जाती है। या तो आप अपनी प्रणाली हो रखिये पुस्तक परम्परा को न उठाए, यदि पुस्तक के आधार पर ज्ञान कराना है तो पुस्तक के अनुसार ही करवाये जिस मे भाषा-भाव व्यवस्थित रहेगे। अन्यथा प्राकृत, गुजराती, हिन्दी आदि का

Mixtur बना रहेगा आज हिन्दी (भाषा) युग मे भाषा का अधिक मूल्य है।

आभार प्रदर्शन—

अन्त मे मैं उन लेखको जिनके ग्रन्थो के आधार पर इस पुस्तक का सम्पादन किया है और अधिक सुन्दर होने पर कही २ तो ज्यो का त्यो ही Matter दिया है हार्दिक आभारी हू। साथ श्रद्धेय गुरुदेव प० श्री महेन्द्रकुमार जी महाराज का कृतज्ञ हू जिन्हो ने इस प्रकाशन मे मार्ग दर्शन किया है।

अत्यन्त सावधानी रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है फिर भी दृष्टि दोष, अल्पज्ञान एव रुग्णावस्था के कारण भाषा एव सिद्धान्त सम्बन्धी यदि, त्रुटिअशुद्धिया रह गई हो तो एतदर्थ क्षमार्थी हू, क्योकि यह पहला ही प्रयास है।

मुनि सुमन जैन

अम्बाला शहर
दिना० ३१ अगस्त १९६१
सं० २०१८

तत्त्व-चिन्तामणि

प्रश्न—तत्त्व किसे कहते है ?

उत्तर—यथार्थ वस्तु को तत्त्व कहते हैं। अथवा सत्=कभी नाश न होने वाला,पदार्थ तत्त्व है। इसका पर्यायवाची सद्भाव पदार्थ, है।

(यूं तो सत्, वस्तु, पदार्थ, द्रव्य ये सब शब्द समानार्थक है किन्तु स्थानाग सूत्र मे नव तत्त्वो को "नव सब्भावपयर्त्था" कहा गया है। जिसका अर्थ परमार्थ रूप वस्तु किया गया है।)

प्रश्न—तत्त्व कितने है ?

उत्तर—तत्त्व नव हैं जैसे कि—

१ जीव तत्त्व	४ पाप तत्त्व	७ निर्जरा तत्त्व
२ अजीव तत्त्व	५ आश्रव तत्त्व	८ बध तत्त्व
३ पुण्य तत्त्व	६ सवर तत्त्व	९ मोक्ष तत्त्व *

परिभाषा

चेतना लक्षण वाला जीव है, अचेतन (जड) अजीव पदार्थ है, शुभ कर्म पुण्य तथा अशुभ कर्म पाप कहलाता है। पापादि कर्मो

---

* जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽसवो तहा,
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव।—उत्त० २८/१४।

तत्त्व=तत्+त्व, तत् शब्द है और त्व प्रत्यय है,

तत्=वह अर्थात् वस्तु त्व=स्वरूप या अस्तित्त्व, अतः संगठित अर्थ हुआ "वस्तु स्वरूप" ही तत्त्व है। यह व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है। *The real substance*

"Substance is the substrate of qualities which cannot exist apart from it, for instence the quality of fluidity

का आत्मा मे आना ही आश्रव है और उनका (आश्रव) निरोध ही सवर है। आत्मा से देशत: (एक अश मे) कर्मों का अलग होना निर्जरा है। कषाय एव योग द्वारा कर्माणुओ का नीर-क्षीरवत् आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाना वन्ध कहलाता है। और सर्व रूप में आत्मा का कर्मो से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है।

रूपी-अरूपी दृष्टि से भेद–

१ पुण्य, पाप, आश्रव और बन्ध, ये चार रूपी हैं।
२ जीव, सवर, निर्जरा और मोक्ष, ये चार अरूपी हैं।
३ अजीव रूपी व अरूपी दोनो प्रकार का है अर्थात् मिश्र है

हेय, ज्ञेय, तथा उपादेय द्वारा भेद–+

१ जीव, अजीव और ‡पुण्य, ये तीन ज्ञेय—जानने योग्य है
२ पाप, आश्रव और बन्ध, ये तीन हेय—त्यागने योग्य हैं।
३ सवर, निर्जरा और मोक्ष, ये तीन उपादेय—ग्रहण करने योग्य है।

+ हेया बधासवपावा, जीवाजीव हुति विन्नेया,
सवर निज्जर मुक्खो पुण्णं हुंति उवाएए।

‡ पुण्य का शेप वर्णन पुण्य तत्त्व में देखिए।

moisture, and the like only exist in water and cannot be conceived separately from it. It is neither possible to create nor to distroy a substance, which means that there never was a time when the existing substence were not, nor shall they ever cease to be. From another point of view substance is the subject of modifications"—The prectical path by C. R Jain

सर्वज्ञ देव ने ये तत्त्व प्रतिपादित किए है। इन मे से जो रूपी हैं वे पुद्गल है, क्योकि जगत् मे दो प्रकार के पदार्थ है—मूर्त्त और अमूर्त्त। जिन मे वर्ण, गध, रस और स्पर्श पाये जाय वे मूर्त्त है तथा जो इन से रहित हैं वे अमूर्त्त कहलाते है। इन्हे ही अन्य शब्दो मे रूपी और अरूपी कहा गया है। अत पुण्यादि भी रूपी हैं क्योकि ये अजीव (जड़) है, पुद्गल है, और पुद्गल वर्णादि युक्त होता है।

जीव आदि अरूपी है क्योकि वह इन्द्रियातीत, अमूर्त्त पदार्थ है× अत. सवर आदि भी आत्म-रूप ही है अर्थात् आत्म्-शक्ति के प्रतीक होने से अरूपी हैं।

तत्त्व संख्या भेद–

मूल रूप मे दो ही तत्त्व हैं—जीव और अजीव। इन दोनो के समिश्रण से अनेक भेद है अर्थात् शेष इन दोनो की अवस्था विशेष है अर्थात् संवर, निर्जरा और मोक्ष ये चेतनामय होने से जीव के रूप है, परिणाम विशेष है और पुण्य पाप, आश्रव और बन्ध ये पुद्गल रूप होने से अजोव है।

इन तत्त्वों की सख्या ग्रन्थकारो ने सात भी स्वीकार की है, उनके अभिप्राय से पुण्य और पाप दोनो कर्माश्रव होने से आश्रव तत्त्व मे आ जाते है अतः पुण्य शुभ आश्रव पाप अशुभ आश्रव रूप ही हैं इस कारण तत्त्व सात ही है।

इन नव तत्त्वों मे से जीव, अजीव और पुण्य ज्ञेय है क्योकि विना इनके ज्ञान हुए (जाने) आत्मा अज्ञान, अशुभ तथा मोक्ष आदि का ज्ञाता नही हो सकता अत ससार से मोक्ष, बधन से

× "नो इन्दियगेज्झ अमुत्तभावा"

मुक्ति, अशुभ से शुभावस्था मे पहुचने के लिए यह भेद विज्ञान अर्थात् चेतन और अचेतन का ज्ञान आवश्यक है। इस ज्ञान के बाद ही पाप, आश्रव और बन्ध जो आत्म-विभाव है, स्वभाव नही, हेय हो है जाते है क्योकि दुख के कारण हैं। इन अनिष्ट तत्त्वो का परिहार और इष्ट तत्त्वो का स्वीकार ही आत्मावस्था है—सवर, निर्जरा और मोक्ष। ये तीनो उपादेय है क्योकि आत्म-शुद्धि, स्वभाव एव गुण के प्रतीक है।

तत्त्व ज्ञान किस लिए ?

उपर्युक्त तत्त्वो का भलीभाँति, ज्ञान हो जाने पर प्राणी विज्ञाता हो जाता है अर्थात् उसे जड़-चेतन की पहिचान होती है यानि सूक्ष्म-स्थूल सभी प्रकार के प्राणियो को जानता है जीव और पुद्गलमय इस विराट विश्व की गतिविधि से परिचित होता है। उसे सुखानुभूति क्यो और कब, दुख क्यो आता है आदि सभी प्रकार की समस्याओ का समाधान मिलता है। जब शुभ अशुभ कर्म का ज्ञान होता है तो फिर उसके कारण जानता हुआ परिणाम पर विचार करता हुआ उस से विलग होने का प्रयत्न करता है।

साथ ही इन तत्त्वो पर भली भाँति विश्वास करने से जीव सम्यग् दृष्टि बनता है अर्थात् तत्त्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग् दर्शन है और वह मोक्ष का कारण है क्योंकि जघन्य १ भव, मध्यम पाच तथा उत्कृष्ट १५ भव मे सम्यक्त्वी अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अत इन तत्त्वो का ज्ञान और उन पर विश्वास परमावश्यक है।†

†तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं,
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं त वियाहिय।—उत्त० २८।१५।
"इय जीवमजीवे य मोक्खा सद्दहिज्ज य, सव्व नयाणमणुमए"........

जीव तत्त्व

पहला

प्रश्न—जीव किसे कहते है ?

उत्तर—जो पुण्य-पाप का कर्त्ता, +सुख दुख का भोक्ता, ‡चेतना लक्षण युक्त, पर्याप्ति, प्राणो का धर्त्ता, ×अविनाशी, अमूर्त्तत्त्व इत्यादि लक्षणो वाला हो उसे जीव कहते है ।* अथवा जिसमे चेतना—स्वसवेदन, ज्ञान शक्ति पायी जाए वही जीव है । आत्मा, पुरुष, चेतन, प्राणधारी आदि इसके ही वोधक है । (Living being or soul)

[समस्त जीव गति, पर्याय, लिंग, स्थान तथा स्थूल-सूक्ष्मादि की दृष्टि से तीन भेदो मे विभक्त है—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट ।]

जीव के भेद

जीव का जघन्य भेद—

१ चेतना

"नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा,

वीरियं उवओगो य, एय जीवस्स लक्खणं ।—उत्त० २८ "सुहेण दुहेण य"

+करने वाला, ‡भोगने वाला, ×धारण करने वाला ।

य. कर्त्ता कर्म भेदाना, भोक्ता कर्म फलस्य च,

ससर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्य लक्षण"।

मध्यम चौदह भेद—

१ उपयोग लक्षण

२ त्रस व स्थावर,

३ स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद,

४ नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव,

५ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय,

६ पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति, त्रस,

७ नारक, तिर्यञ्च, तिर्यञ्ची, देव, देवी, मनुष्य, मानुष्यी,

८ * चार गति के जीव पर्याप्तक, अपर्याप्तक,

९ +पाँच स्थावर, चार त्रस‡

१० †पाँच जाति के (जीव) पर्याप्तक, अपर्याप्तक,

११ पांच सूक्ष्म, छह बादर×

१२ छह काया के जीव पर्याप्तक, अपर्याप्तक,

१३ पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति काय के दो भेद—प्रत्येक, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के चार भेद—नारक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव।

---

*नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देव गति के जीव।

+पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये स्थावर संज्ञक हैं। ‡द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस संज्ञा वाले हैं। †एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि जाति, ×पृथ्वी आदि पांच और छठा त्रस।

१४ एकेन्द्रिय के दो भेद—१ पर्याप्तक २ अपर्याप्तक
३ सूक्ष्म ४ बादर
द्वीन्द्रिय के दो भेद—५ पर्याप्तक ६ अपर्याप्तक
त्रीन्द्रिय के दो भेद—७ पर्याप्तक ८ अपर्याप्तक
चतुरिन्द्रिय के दो भेद—९ पर्याप्तक १० अपर्याप्तक
पंचेन्द्रिय के चार भेद—११ संज्ञी १२ असंज्ञी
१३ पर्याप्तक १४ अपर्याप्तक

[सम० स्था०]

उत्कृष्ट भेद—

[चौदह नरक, अड़तालीस तिर्यंच, तीन सौ तीन मनुष्य, एक सौ अठयानवे देव। इस प्रकार जीव के उत्कृष्ट पाच सौ त्रैसठ भेद होते है +]

नरक के चौदह भेद

नरक के नाम—	नरक के गोत्र—
१. घम्मा (ग्रीष्मा)	१. रत्न प्रभा
२. वंशा	२. शर्कर प्रभा
३. शीला	३. बालु प्रभा
४. अंजना	४. पंक प्रभा
५. रिष्टा	५. धूम्र प्रभा

+ नेरिय तिरिय नर देवा, चउदस अडयाल तिन्निसय निन्नेव,
अट्ठाणू सयमेग पर्णासय भेयाय तेसट्ठी।—

६. मघा — ६. तम प्रभा

७. माघवती — ७. तम तमा प्रभा

[इन सात नरको के नारक पर्याप्त और अपर्याप्त होते है अत. चौदह भेद है]

तिर्यञ्च के ४८ भेद

❀ एकेन्द्रिय के २२ भेद ❀

(१) पृथ्वीकाय के चार भेद—

१. सूक्ष्म पृथ्वीकाय,

२. बादर पृथ्वीकाय,

३. पर्याप्त ,,

४. अपर्याप्त + ,,

(२) अप्काय के चार भेद—

सूक्ष्म-बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक

(३) तेजस्काय के चार भेद—

सूक्ष्म-बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक

(४) वायुकाय के चार भेद—

सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक, अपर्याप्तक,

(५) वनस्पतिकाय के छह भेद—

सूक्ष्म, प्रत्येक और साधारण

ये तीन पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

+ [illegible] अप्कायादि के भेद समझने चाहिए।

विकलेन्द्रिय के छह भेद

(१) द्वीन्द्रिय के दो भेद–पर्याप्त और अपर्याप्त,
(२) त्रीन्द्रिय के दो भेद–पर्याप्त और अपर्याप्त,
(३) चतुरिन्द्रिय के दो भेद–पर्याप्त और अपर्याप्त,

तिर्यञ्च पचेन्द्रिय के २० भेद

१. जलचर २. स्थलचर ३. खेचर
४. उरपुर (उरपरिसर्प-भुजपरिसर्प) ५. भुजपुर

ये पाच सज्ञो और पांच असज्ञो होते हैं तथा ये दश पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते है, इस प्रकार २० भेद होते है।

[उत्तराध्ययन ३६]

परिभाषा

प्र०—जलचर किसे कहते हं ?
उ०—जो जीव जल मे चलते हैं, रहते हैं, उन्हे जलचर कहते हे।
जैसे—मगर, मत्स्य, कछुआ, ग्राह, सुसुमारादि, इन का कुल (वश) १२।। साढे बारह लाख करोड़ है।
प्र०—स्थलचर किसे कहते है ?
उ०—जो जीव पृथ्वी (भूमि-जमीन) पर चलते हैं रहते है, उन्हे स्थलचर कहते है। जैसे, गाय, हाथी, घोड़ा आदि। इनका कुल १० लाख क्रोड़ का होता है।

ये जीव चार प्रकार के होते हैं—एक खुरा, दो खुरा, गड्डी पद, सनखपद।

+एक खुरा—एक खुर वाले, गधा, घोडा, खच्चर आदि,

दो खुरा—दो खुर वाले, गाय, भैंस बकरी आदि,

×गद्दी पद—हाथी, ऊट, गैंडा आदि,

‡सनखपद—नाखून वाले, शेर, बिल्ली, नेवल, कुत्ता आदि,

प्र०—खेचर किसे कहते है ? तथा वे कौन से है ?

उत्तर—आकाश मे उडने वाले जीव खेचर कहलाते हैं।

(खे आकाश को कहते है अत उसमे विचरण करने वाले पक्षी आदि खेचर सज्ञक हैं। ये भी चार तरह के होते है—चर्म पक्षी, रोम पक्षी समुद्ग पक्षी, वितत पक्षी।

चर्म पक्षी—चमडे के पख वाले, चाम चिडि, चमगिदड, आदि,

रोम पक्षी—रोम युक्त पख वाले, तोता, चिडिया, कबूतर आदि।

समुद्ग पक्षी—डिब्बे की भाँति पख बन्द करके उड़ने वाले पक्षी।

वितत पक्षी—जो पख फैला कर उड़े अथवा कलमदान के आकार जैसे पख वाले पक्षी।

समुद्ग और वितत पक्षी अढाई द्वीप (जम्बू-धातृ-पुष्करार्द्ध) के बाहर पाये जाते है। इनका कुल १२ लाख कोटि है।

प्र०—उरपुर किसे कहते है ?

उ०—जो जीव छाती के बल चलते हैं अर्थात् जिनके चलने

+ चलने वाले पशुओं के पाव की अ गुलियों के स्थान पर नाखून जैसा जो कठोर पदार्थ होता है वह खुर कहलाता है। × गडीपया—जिनके पाव गद्दी की तरह होते हैं, तथा जो रेतीले मार्ग को आसानी से पार कर जाते हैं।

‡ सनखपया—वे पशु जिनके पावों (की अ गुलियों) पर नाखून होते हैं अर्थात् पंजों वाले पशु।

फिरने मे आधार छाती ही है वे उरपुर कहलाते है।
जैसे : अहि=साँप, अजगर, महोरग आदि, इनका कुल १० लाख कोटि है।

प्र०—भुजपुर किसे कहते है ?

उ०—जो जीव भुजाओ के बल चलते है, गतिशील है, उन्हे भुजपुर कहते हैं। जैसे नेवल, चूहा, गिलहरी आदि।
इनका कुल एक लाख कोटि है।

[उत्तराध्ययन ३६।]

तीन सौ तीन प्रकार के मनुष्य

पन्द्रह कर्मभूमिज, तीस अकर्मभूमिज, छप्पन अन्तर्द्वीपज, ये एक सौ एक पर्याप्त-अपर्याप्त=दो सौ दो तथा एक सौ एक क्षेत्रों के संमूर्च्छिम मनुष्य अपर्याप्त, एवं तीन सौ तीन।+

मनुष्य दो प्रकार के हैं गर्भज, समूर्च्छिम, गर्भज पुनः तीन प्रकार के हैं कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक, अन्तर्द्वीपज। अगर्भज का एक ही प्रकार है। ये भेद क्षेत्र तथा उत्पत्ति की अपेक्षा से है।

परिभाषा

प्र०—कर्म भूमि किसे कहते है ?

उ०—जहां असि=शस्त्रविधि, मषि=लेखनविधि, कृषि=खेती कर्म, राज्यसत्ता, साधुत्व, धर्म-व्यवहार तथा बहत्तर कला पुरुषों की, चौसठ कला स्त्रियो की, एक सौ प्रकार का शिल्प कर्म इत्यादि पाये जाते हो उसे कर्मभूमि कहते है। अर्थात् जिस स्थान पर जीवन निर्माण तथा रक्षण के लिए मानसिक

+कम्मा कम्मयभूमि पज्जापज्जाय अ तरदीवा,
समुच्छिमपज्जनाय ग्ग सव्वे वि मणुआणं।

वाचिक और कायिक क्रियाओ द्वारा साधन उपलब्ध हो कर्मभूमि है।

अथवा यू कहे कि जहा मानव सक्रिय—पुरुपार्थमय जीवन व्यतीत करता हो वह स्थान कर्मभूमि है।

प्र० कर्म भूमि क्षेत्र कितने है ?

उ०—कर्म भूमि क्षेत्र पन्द्रह है—पाच भरत, पाच ऐरावत, पाच महाविदेह।

एक लाख योजन का †जम्बू द्वीप है। जिसमे एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह है। इस जम्बू द्वीप के चारो ओर (गोलाकार) दो लाख योजन का लवण समुद्र है, लवण समुद्र के चारो ओर चार लाख योजन का धातकी (धात्री) खण्ड द्वीप है, इस मे दो भरत, दो ऐरावत, दो महाविदेह क्षेत्र है।

धात्री खण्ड के चारो ओर आठ लाख योजन का कालोदधि नामक समुद्र है इसके चारो ओर सोलह लाख योजन का पुष्करद्वीप है, इस द्वीप के मध्य मे बैठे हुए सिंह की आकृति जैसा मानुषोत्तर पर्वत है‡ इसके आभ्यन्तर भाग मे अर्थात् अर्द्धपुष्कर द्वीप मे मनुष्य रहते हैं, बाहर देव एव पशु आदि का विचरण होता है इसी लिए इसे मानुषोत्तर कहते हैं। इस अर्द्धपुष्कर द्वीप मे दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह क्षेत्र है।

इस प्रकार ये पन्द्रह कर्म भूमि क्षेत्र हैं, इस मे रहने वाले मनुष्य कर्मभूमक, कार्मभौमक अथवा कर्मभूमिये कहलाते है।

प्र०—अकर्मभूमि क्षेत्र क्या है ?

---

†चार हजार कोस या आठ हजार मील का एक योजन होता है।

‡यह पर्वत १७२१ योजन ऊंचा मूल मे १०२२ योजन, शिखर में ४२४ योजन वलयाकार—चूडी की भांति आकृति वाला है।

उत्त०—जिस स्थान पर शस्त्र कला, लेखन कला, कृषि कर्म, राज्यसत्ता साधुत्व, श्रावकत्व, आदि धर्मव्यवहार नही वह अकर्म भूमि है।
अथवा जहा मानव अपने बुद्धिवल द्वारा जीवन यापन के कर्म न कर निष्क्रिय रह प्रकृति प्रदत्त साधनो से ही जीवन निर्वाह करता हो।

प्र०—अकर्म भूमि क्षेत्र कितने है और कहा है ?

उत्त० –अकर्म भूमि क्षेत्र तीस हैं -५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु, ५ हरिवास, ५ रम्यक् वास, ५ हैमवत, ५ हैरण्यवत। इन मे से एक देवकुरु, एक उत्तरकुरु, एक हरिवास, एक रम्यक्वास, एक हैमवत, एक हैरण्यवत ये छह क्षेत्र जम्बू द्वीप मे है इसी प्रकार दो देवकुरु, दो उत्तरकुरु, दो हरिवास, दो रम्यक्वास, दो हैमवत दो हैरण्यवत ये वारह क्षेत्र घातकी खण्ड मे है। दो देवकुरु, दो उत्तरकुरु, दो हरिवास, दो रम्यक्वास, दो हैमवत, दो हैरण्यवत, ये वारह क्षेत्र अर्द्ध पुष्कर द्वीप मे हैं।

इन क्षेत्रो मे रहने वाले मनुष्य अकर्मभूमक, अकार्मभौम अथवा अकर्मभूमिये और युगलिये भी कहलाते है।

प्र०—कर्मभूमि क्षेत्रो के मनुष्य तो कार्य करके अपने जीवन का निर्वाह कर लेते है, किन्तु अकर्म भूमि क्षेत्रो मे जव कि मनुष्य किसी भी प्रकार का कार्य सम्पादन नही करता तो फिर उनके जीवन का निर्वाह कैसे होता है क्योकि जीवन को जीवित रखने मे किसी न किसी आधार भूत पदार्थ की अपेक्षा रहती ही है।

उत्त०—अकर्मभूमि क्षेत्रो के मनुष्यो की जीवनाधार भूत अभिलाषाओ तथा आवश्यकताओ की पूर्ति उन्ही क्षेत्रो मे रहे हुए अर्थात् प्रकृति प्रदत्त वृक्षो (जिन्हे कल्प वृक्ष कहते है) से होती है।

प्र०—जीवन मे इच्छाएँ तो अनेक प्रकार की होती है, क्या

उन सभी इच्छाओ की पूर्ति एक ही वृक्ष कर देता है अथवा कई वृक्ष करते है।

उत्त०—प्रथम तो यह कि उन अकर्मभूमको की इच्छाएं स्वभाव से ही अल्प होती है क्यो कि उन क्षेत्रो के जलवायु का प्रभाव ही ऐसा है कि वासनाए शात रहती है अर्थात् पूर्व सचित मोहनीय कर्म के अल्पोदय से वासनाए स्वल्प होती है यानि वे अल्प-कषायी होते है क्यो कि इच्छाओ का आधार मोह ही है। अतः उन की पूर्ति दस प्रकार के कल्प वृक्ष करते है.—

* दस कल्प वृक्ष *

१	मत्ताग	मत्तगया	मीठे और स्वादु रस का देने वाला,
२	दीपाङ्ग	दीव	जिस से दीपकवत् ज्योति प्रकट होती है,
३	मण्यङ्ग	मणियगा	आभरणो का प्रदाता,
४	चित्राङ्ग	चित्तगा	विविध वर्ण के पुष्पो का प्रदाता,
५	त्रुटिताङ्ग	तुडियंगा	उन्नचास प्रकार के वाद्यन्त्र का प्रदाता,
६	अण्यग	अणियणा	नाना वस्त्रो का प्रदाता,
७	चित्तरस	चित्तरसा	विचित्र रस युक्त भोजन देने वाला,
८	गृहाकार	गेहागारा	घर के समान धूप, शीत, वर्षादि से रक्षा करने वाला,
९	ज्योत्यग	जोइ	सूर्यसदृश ज्योति वाला, जिस मे से ज्योति–प्रकाश उत्पन्न हो,
१०	भृताग	भिंगा	सुन्दर पात्र–वर्तनो का प्रदाता

[उपर्युक्त वृक्ष उन युगलियो* के जीवन निर्वाह के साधन है,

* यहा के मनुष्य जोडे से उत्पन्न होते हैं तथा जोडे मे ही रहते हैं अत ये युगल अथवा युगलीये कहलाते हैं। शास्त्रीय कथन है कि जब युगलो की आयु छह मास शेष रह जाती है तब युगलिनी पुत्र-पुत्री के युगल को जन्म देती है। और

अर्थात् इन्ही वृक्षों के फल, पुष्प, पत्रो द्वारा आनन्दपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते है।]

* अन्तर्द्वीप छप्पन *

प्र० अन्तर्द्वीप किसे कहते है ?

उ० लवण समुद्र के भाग मे स्थित द्वीप जो कि एक दूसरे के आगें है अर्थात् जो क्रमश. एक पक्ति मे आ गये हैं तथा जिस मे एक दूसरे की दूरी का निश्चित अन्तर है अन्तर्द्वीप कहलाते है।

('जल मे रहे) वे द्वीप जो पक्तिबद्ध तथा क्रमशः निश्चित अन्तर के साथ हैं उन्हे अन्तर्द्वीप कहते है। (Island)

प्र० ये कितने है, कहा है, और इन का परिमाण क्या है ?

उ० अन्तर्द्वीप छप्पन हैं जिस मे से २८ लवण समुद्र मे पूर्व तथा पश्चिम दिशा की ओर तथा २८ उत्तर व दक्षिण दिशा की

यथाक्रम से अधिक से अधिक केवल ७९ दिन पालन-पोषण करते हैं। बाद में वे स्वावलम्बी हो जाते हे और कालान्तर में इन के (युगलों) माता-पिता की मृत्यु छींक, जमाई मात्र से हो जाती है। पश्चात् ये युगल लम्बे समय तक बहिन-भाई की तरह रहते हैं किन्तु मोहकर्मोदय से आयु जब १५ मास की शेष रह जाती है तो इन में परस्पर कामेच्छा उत्पन्न होती है और ये दम्पति के रूप में बदल जाते हैं और युगलिनी उपर्युक्त कथनानुसार जन्म देकर पालन-पोषण कर मृत्यु को प्राप्त होती हैं। यही इन के जीवन-मृत्यु का क्रम है।

ये मनुष्य सम्यगादृष्टि-मिथ्यादृष्टि तथा अत्यधिक लम्बी उम्र वाले होते हैं। इन की गति देवलोक की है, इन का आहार काल की अपेक्षा अरहर का दाणा, बेर फल तथा आम्ल फल जितना है। इतने आहार से वे तृप्त हो जाते हैं क्यों कि उस समय की वस्तुएँ सत्व युक्त होती हैं जो Tonic-Medicine की तरह बलवर्धक होती है, उस काल की मिट्टी मिश्री, शर्कर और गुड जैसे स्वाद वाली होती है।

ओर वसे हुए है। इन की लम्बाई-चौडाई तीन सौ से नवसौ योजन तक है।

अन्तर्द्वीप का विस्तृत वर्णन :-

जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र की मर्यादा बाधने वाला पीला स्वर्णमय चुल्लहिमवत नामक पर्वत है। यह सौ योजन ऊचा है. पच्चीस योजन भूमि मे है, इसकी चौडाई एक हजार बावन (१०५२) योजन १२ कला* है तथा चौवीस हजार नवसौ वत्तीस योजन लम्बाई है। इस पर्वत के पूर्व और पश्चिम मे दो दो दाढा है जो लवण समुद्र मे चौरासी सौ योजन लम्बी हैं।

पूर्व दिशा की ओर जो दो दाढा गई है उन मे से आगे चल कर एक दक्षिण की ओर मुड गई तथा दूसरी उत्तर की ओर। दक्षिण दिशा की ओर गई हुई दाढ़ पर सात अन्तर्द्वीप है। जैसे :- जम्बू द्वीप की जगति (कोट) से लवण समुद्र मे तीन सौ योजन जाय तो पहला अन्तर्द्वीप आता है अर्थात् —

	३००	योजन का	अन्तर	३००	योजन का	द्वीप,
	४००	योजन का	,,	४००	योजन का	द्वीप,
आगे	५००	,,	,,	५००	,,	,,
,,	६००	,,	,,	६००	,,	,,
,,	७००	,,	,,	७००	,,	,,
,,	८००	,,	,,	८००	,,	,,
,,	९००	,,	,,	९००	,,	,,

इसी प्रकार उत्तर की ओर को गई हुई दाढ पर भी सात अन्तर्द्वीप हैं।=१४

*कला का अर्थ अंश या भाग है, (योजन के १९वें भाग को कला कहते हैं।)

पश्चिम की ओर जो दो दाढा गई हैं वे भी क्रमश: पूर्व और पश्चिम को मुड गई है, जिन पर भी उपर्युक्त रीति से सात २ अन्तर्द्वीप बसे है अत पूर्व पश्चिम की चारो दाढाओ पर २८ अन्तर्द्वीप हैं। = ७×४=२८।

जम्बू द्वीप के ऐरावत क्षेत्र की मर्यादा (सीमा) करने वाला स्फटिक रत्नमय श्वेत वर्ण वाला शिखरी पर्वत है। इस की लम्वाई चौडाई चुल्ल हिमवत की तरह ही है। तथा उस की तरह ही पूर्व पश्चिम मे चार दाढा है और उन पर सात सात अन्तर्द्वीप हैं। एव २८ अन्तर्द्वीप है अत दोनो पर्वतो के छप्पन अन्तर्द्वीप है।

अन्तर्द्वीपों के नाम :-

१ एक रुक	८ शष्कुलीकर्ण	१५ सिंहमुख	२२ मेघमुख
२ आभासिक	९ आदर्श मुख	१६ व्याघ्र मुख	२३ विद्युतमुख
३ वैषाणिक	१० मेष मुख	१७ अश्व कर्ण	२४ विद्युद्दन्त
४ लागुलिक	११ अजा मुख	१८ सिह कर्ण	२५ घन दन्त
५ हय कर्ण	१२ गो मुख	१९ अकर्ण	२६ लष्ठदन्त
६ गज कर्ण	१३ अश्व मुख	२० कर्ण प्रावरण	२७ गूढ दन्त
७ गो कर्ण	१४ हस्ति मुख	२१ उल्का मुख	२८ शुद्ध दन्त।

इन मे रहने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपी, या अन्तर्द्वीपज कहलाते हैं। ये भी युगलिये होते हैं तथा ये भी अकर्मभूमि क्षेत्र है और यहां भी कल्पवृक्ष से ही जीवन निर्वाह होता है।

१८वा हस्ति कर्ण, २५वा जिह्वा मुख, ११वा हा मुख, २६वा श्रेष्ठ दन्त है, पाठान्तरे।

संमूर्च्छिम मनुष्य

प्रश्न—सम्मूर्च्छिम से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—जो जीव मातृ-कुक्षि मे जन्म न ले कर अन्य विकृत (बिगडे) पदार्थो मे ही उत्पन्न हो जाते है वे (उत्पत्ति की अपेक्षा) सम्मूर्च्छिम कहलाते है। अथवा अगर्भज, या बिना माता-पिता के सयोग से उत्पन्न होने वाले (जीव) मनुष्य।

प्र० जीव प्रथम माता के गर्भ में आता है और वहा रहता हुआ भोग्य पदार्थ का आहार करता है, उस आहार से जब वह अपने शरीरावयवो का निर्माण कर लेता है तो फिर वह जन्म लेता है किन्तु जो जीव मातृ-कुक्षि मे आता ही न हो फिर उस के शरीर का निर्माण कैसे होता है ? क्यो कि पिण्ड-शरीर के बनने मे सहायक पदार्थो की आवश्यकता तो होती है, जैसे, भवन के लिये ईंट, गारा आदि की।

उ० यह ठीक है कि जीव को शरीर निर्माण के लिये आहार की आवश्यकता रहती है किन्तु उस के लिये वीर्य आदि तत्त्व ही नही बल्कि अन्य भी ऐसे तत्त्व है जिस के विकृत हो (बिगड) जाने पर जीवोत्पत्ति हो जाती है अर्थात् वे विकृत पदार्थ ही योनि रूप हो जाते है। दधि आदि के विकृत (खट्टा) हो जाने पर जीव उत्पन्न हो जाते है। हाँ, इतना अवश्य है कि ये जीव अपूर्ण—अपर्याप्त होते हैं। अर्थात् मन, भाषा आदि शक्तिया प्राप्त नही होती अत सम्मूर्च्छिम अपर्याप्त कहलाते है।

सम्मूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्ति स्थान—

१ उच्चारेसु—पुरीष, टट्टी, Excrements.

२ पासवणेसु—मूत्र, प्रस्त्रवण Urine
३ खेलेसु—श्लेष्म, कफ, Phlegm
४ सिंघाणेसु—नाक का मैल, Dirt of the nose.
५ वन्तेसु,—वमन, उल्टी, Vomiting.
६ पित्तेसु,—शरीर की पीले रंग की एक धातु, Bile,
७ पूयेसु,—पीव, राध, विकृत रुधिर Pus
८ सोणियेसु,—शोणित, रक्त, खून Blood
९ सुक्केसु,—शुक्र, वीर्य, Semen
१० सुक्कपुग्गले परिसाडेसु—वीर्य के बिखरे हुए कणों के पुन भीग जाने पर, Mulecules of Semen
११ विगय जीव क्लेवरेसु—मृत्त कलेवर, शव, Dead body
१२ मेहुण, थी पुरिस सजोगे—मैथुन मे, स्त्री-पुरुष सयोग मे, Coition
१३ नगर निद्धवणेसु—नगर के नाला मे, मोरी मे, नगर निर्धमन, City gutter or cess
१४ सव्व असुइ ठाणेसु—सर्व प्रकार के गदे स्थानो में, सर्व अशुचि स्थानो मे, Dirty places

इन पदार्थों मे अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न हो जाते है।† जिन की आयु अन्तर्मुहूर्त्त की तथा अवगाहना

---

† शास्त्रकारों ने दो प्रकार के जीवों का वर्णन किया है। गर्भज, व अगर्भज (समूर्च्छिम) इस आधार पर ही प्राणी जगत के जन्म के प्रकार हुए हैं—अण्डज,

अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी होती है। ये मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी असंज्ञी होते है।

१९८ प्रकार के देव

देव चार प्रकार के हैं — भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक।

भवनवासी देव दश प्रकार के है :—

१ असुर कुमार	६ द्वीप कुमार
२ नाग कुमार	७ उदधि कुमार
३ स्वर्ण कुमार	८ दिग् कुमार
४ विद्युत कुमार	९ पवन कुमार
५ अग्नि कुमार	१० स्तनित कुमार

(उ० ३६ । २०५)

(,,) परमाधार्मिक देव १५ प्रकार के है —

१ अम्ब	६ महारुद्र	११ कुम्भ
२ अम्बरीष	७ काल	१२ वालुक

पोतज, जरायुज, गर्भज,
इन में से प्रथम (तीन) माता-पिता के रज-वीर्य के सम्मिश्रण होता है अतः गर्भज कहलाता है यह तीन प्रकार का है :—अण्डज-अण्डे से उत्पन्न होने वाले, कपोत, चिड़िया आदि। पोतज—पोत से उत्पन्न होने वाले अर्थात् जन्म लेकर शीघ्र ही दौड़ भाग करने वाले, हरिण हाथी आदि। जरायुज—जर-जेर से लिपटे हुए उत्पन्न होने वाले, गाय भैंस आदि।

इधर उधर के पुद्गलों के सम्मिश्रण से होने वाला जन्म अगर्भज (संमूर्च्छिम) अथवा सम्मूर्छन कहलाता है। जैसे नाना प्रकार के कीड़े मकौड़े आदि। इन दोनों जन्म प्रकारों से भिन्न एक और प्रकार भी है जिसे उपपात कहते हैं, देव और नारक औपपातिक कहलाते हैं।

३	श्याम	८	महाकाल	१३	वैतरणी
४	शबल	९	असिपत्र	१४	खरस्वर
५	रुद्र	१०	धनुष पत्र	१५	महाघोष

२ व्यन्तर देव सोलह प्रकार के है।

१	पिशाच	५	किन्नर	९	आणपन्ने	१३	कन्दित
२	भूत	६	किंपुरुष	१०	पाणपन्ने	१४	महाकन्द्रित
३	यक्ष	७	महोरग	११	ऋषिवादिक	१५	कुष्माण्ड
४	राक्षस	८	गन्धर्व	१२	भूतवादिक	१६	पतग देव

(प्रज्ञा० उ० ३६ । २०६)

(,,) तिर्यक् जृम्भक देव दश प्रकार के है

१	अन्न जृम्भक	६	पुष्प जृम्भक
२	पान जृम्भक	७	पुष्प-फल जृम्भक
३	लयन जृम्भक	८	फल जृम्भक
४	शयन जृम्भक	९	वीज जृम्भक
५	वस्त्र जृम्भक	१०	आवन्ति जृम्भक

(भग०)

३ ज्योतिष्क देव दश प्रकार के है —

१	चन्द्र	३	ग्रह
२	सूर्य	४	नक्षत्र ५ तारा

ये पाच चर और पाच अचर = दश।†

किल्विषिक देव तीन प्रकार के हैं -

तीन पल्य वाले, तीन सागर वाले, तेरह सागर वाले।

---

†चर का अर्थ है चलने वाला तथा अचर से अभिप्राय है निश्चल स्थान पर ही रहने वाला, ये अढाई द्वीप (जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड पुष्करार्द्ध) में चलते हैं तथा बाहिर अचर हैं। अढाई द्वीप में चर के कारण ही दिन-रात का अस्तित्व है।

१ तीन पल्य वाले ज्योतिषी देवों से ऊपर है किन्तु पहले-दूसरे देवलोक से नीचे हैं।

२ तीन सागर वाले पहले, दूसरे देवलोक से ऊपर किन्तु तीसरे चौथे देवलोक से नीचे हैं।

३ तेरह सागर वाले, पाचवे से ऊपर है तथा छट्ठे से नीचे हैं।

[स्था० ३।४।]

लौकान्तिक देव नव प्रकार के है :—

१ सारस्वत	२ आदित्य	३ वह्नि
४ गर्दतोआ	५ तुषिता	६ अव्याबाध
७ आग्नेय	८ वरुण	९ रिष्टा

[स्था० ६]

४ वैमानिक देव छब्बीस है —

[वैमानिक देव दो प्रकार के हैं, कल्पोपन्न, कल्पातीत, प्रथम के बारह देव लोक कल्प देवलोक और उन के देव कल्पवासी देव कहलाते हैं। कल्प का अर्थ है मर्यादा, जहा स्वामी, सेवक, इन्द्र, सामानिक आदि का व्यवहार हो अर्थात् शासित-शासक का रूप ही कल्प है किन्तु जहा इस प्रकार की कोई मर्यादा नही, एक समान ही हैं वह कल्पातीत कहलाते है। ये भी दो प्रकार के है, ग्रैवेयक-अनुत्तर]

१ सौधर्म कल्प	७ महाशुक्र देवलोक
२ ईशान कल्प	८ सहस्रार देवलोक
३ सानत्कुमार देवलोक	९ आनत देवलोक
४ महेन्द्र देवलोक	१० प्राणत देवलोक
५ ब्रह्म देवलोक	११ आरण देवलोक
६ लांतक देवलोक	१२ अच्युत देवलोक

नव ग्रैवेयक –

१	भद्र	२	सुभद्र	३	सुजात
४	सुमनस्	५	सुदर्शन	६	प्रियदर्शन
७	अमोह	८	सुप्रतिबद्ध	९	यशोधर

अनुत्तर वैमानिक :—

१ विजय २ वैजयन्त ३ जयन्त
४ अपराजित ५ सर्वार्थसिद्ध,

[१० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ व्यन्तर, १० जृम्भक, १० ज्योतिष्क, ३ किल्विषिक, ९ लौकान्तिक, १२ कल्पवासी, ९ ग्रैवेयक, ५ अनुत्तर वैमानिक,=९९, ये पर्याप्त और अपर्याप्त= एव १९८ भेद हुए।]

न० ति० मनु० देव
१४ + ४८ + ३०३ + १९८ = ५६३, सर्व मिल कर जीव के पाच सौ त्रेसठ भेद हुए। †

परिभाषा

चेतना— ज्ञान अनुभव शक्ति, Consciousness.

उपयोग—आत्मा का वोध रूप व्यापार ही उपयोग है अथवा आत्मा द्वारा असत्-सत् के निर्णय करने के लिए होने वाला प्रयत्न विशेप।

Cognition Cognition is nothing n ore than the menifestation of consciousness in a particular form It consist of

---

† भवण वण जोइ जुयले जंभक परमाऽहम्माय लोगन्ते,
किव्बिसि अहमिंदाणं ९८ सव्वेवि देवाण।

apprehention and comprehension its constituents —Jain psychology-by M L Mehta.

त्रस—जिन्हे दो, तीन, चार या पाच इन्द्रिया प्राप्त है, वे त्रस कहलाते है । अथवा सुख-दुख आदि के उपस्थित होने पर जो उन का प्रत्यक्ष प्रदर्शन कर सके अर्थात् दौड भाग कर अपनी रक्षा कर सके । "त्रस्यन्तीति त्रसा" जगम, गति-शील । सीप, शख, जू, मक्खी आदि (Mobilecrcature) ' दुख से त्रस्त हो कर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की शक्ति वाले प्राणी ।"

स्थावर—स्थितिशील, जो एक स्थान पर ही स्थित रहते हैं अथवा जिन्हे केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय (त्वचार) ही प्राप्त है, वे स्थावर जीव है पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति । इन मे से जल और वायु गति की अपेक्षा त्रस है किन्तु स्थावर नाम कर्मोदय से स्थावर पर्याय होने के कारण स्थावर कहलाते हैं ।

नारक—नरक मे उत्पन्न हुए जीव नारक या नारकी कहलाते है । नर्क, अर्को यत्र न विद्यते स नर्क "अथवा इस पृथ्वी पिण्ड के नीचे जो अधोलोक है उसे नरक कहते है । Denizens of hells hellish

तिर्यंच—पशु पक्षी, पृथ्वी, आदि स्थावर एव द्वीन्द्रिया जीव तिर्यंच कहलाते है । Animals and plants etc

देव—ऊर्ध्वलोक के वासी देव कहलाते है, अथवा स्वर्ग के निवासी देव कहे जाते है । Residents of heavens (celestial)

एकेन्द्रिय—पांच इन्द्रियों मे से जिसे एक इन्द्रिय—स्पर्शनेन्द्रिय प्राप्त हो ।

द्वीन्द्रिय—दो इन्द्रिया–स्पर्शन-रसन–जिह्वा प्राप्त हो, सीप, जोक आदि। Two sensed-being.

त्रीन्द्रिय—जिन्हे तीन इन्द्रियाँ–स्पर्शन-रसन-घ्राण–नासिका प्राप्त हो; जू, चीचड, मकडी आदि। Three sensed-being

चतुरिन्द्रिय—जिन्हे चार इन्द्रिया–पूर्वोक्त तीन और नेत्र प्राप्त हो, मक्खी, भवरा आदि। Four sensed-being.

पंचेन्द्रिय—पाच इन्द्रिय वाले। मनुष्य, पशु आदि।

अप्काय—जल, तेजस्—अग्नि। Five sensed-being.

पर्याप्तक—पूर्ण अर्थात् वे जीव जिन्हो ने स्वयोग्य–जितनी जिस मे होनी चाहिए, पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली है पर्याप्त हैं।

अपर्याप्तक—वे जीव जिन की स्वयोग्य पर्याप्तिया पूर्ण न हुई हो (Not capable of development)

सूक्ष्म—बारीक, जो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी दिखाई न दे सके Invisible, minute, fine.

बादर—अपेक्षा कृत स्थूल, जो चर्म चक्षुओ से दिखाई दे सकें Gross, visible

प्रत्येक—जिस शरीर का एक ही जीव स्वामी हो उसे प्रत्येक शरीर कहते है। जैसे द्वीन्द्रिय आदि। A constitution in which one body.

साधारण—जिस शरीर के अनेक जीव स्वामी हो वह साधारण है। जैसे एकेन्द्रिय जीव। Having infinite souls

संज्ञी—मनवाले जीव सज्ञी कहलाते है और बिना मन वाले

असज्ञी । अथवा सज्ञी का अर्थ है सज्ञा वाले, तथा सज्ञा का अर्थ है हित-अहित की विचारणा। यह विना मन के नही होती अतः इन्द्रियो के साथ जिन जीवो के पास मन होता है वे सज्ञी कहे जाते है।

जघन्य—कम से कम, जिस से कम न हो least.

उत्कृष्ट—अधिक से अधिक, जिससे और अधिक न हो। Highest limit

भवन पति (वासी)—वे देव जो भवनो* मे रहते है भवनवासी कहलाते हैं।

वाण व्यन्तर—वे देव जो वन-उपवन मे रहते है तथा जो स्वभाव से अधिक क्रीडा शील है। इस लिए वनचारी—(वाण-व्यन्तर) कहलाते हैं अथवा नाना अन्तरो—छिद्रो वाले स्थान विशेष मे तथा गुफा, कन्दरा, विल आदि मे रहने से व्यन्तर कहे जाते हैं।

ज्योतिषी—जिनके विमान प्रकाश करते है, ऐसे विमान मे रहने वाले देव ज्योतिषी कहे जाते है। अथवा जो लोक मे प्रकाश करते है।

वैमानिक—अतिशय सुन्दर विमानो मे रहने वाले देव वैमानिक कहलाते है।

ग्रैवेयक—लोक पुरुष की ग्रीवा—गर्दन की आकृति की तरह जो शोभित है ऐसे विमानो मे रहने वाले देव ग्रैवेयक कहे गये है।

---

*[illegible] लाख अस्सी हजार योजन की मोटाई वाली रत्नप्रभा के पृथ्वी पिण्ड में से [illegible] हजार ऊपर नीचे छोड़ कर एक लाख अठहत्तर हजार योजन के मध्य-भाग में [illegible] की मार भवन कोठियां हैं, तथा १, लाख ७२ हजार भवन हैं।

अनुत्तर—जिन देवो से अन्य देव आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या आदि मे उत्तर–प्रधान नही है वे अनुत्तर वैमानिक कहलाते है।

अर्थात् ये देव उत्तरोत्तर महर्धिक है। पहले दूसरे देवलोक तक ही देव-देवियो का आवास है। बारहवे देवलोक तक कल्प–मर्यादा भाव यानि इन्द्रादि का रूप है आगे इन्द्रवत् होने से अहमिन्द्र अवस्था है। मनुष्य लोक मे यदि किसी कारण से देवो का आना हो तो कल्पोपन्न ही आते है कल्पातीत नही। यू तो उर्ध्व लोक मे सभी देव विमानो मे ही रहते हैं किन्तु यहा जाति, स्वभाव आदि की विशेषता के कारण भिन्न नामकरण है।

लौकान्तिक—ब्रह्मलोक के समीप कृष्ण राजी क्षेत्र मे सारस्वत आदि विमानो के रहने वाले सोम आदि देव, लोकपाल, दिशाओ के देव, ये देव विषय-रति से रहित होते है अत औदयिक भाव लोक के अन्त हो जाने पर दूसरे जन्म मे मोक्ष प्राप्त कर लेते है इस लिए लोकान्तिक देव कहलाते है। तीर्थंकर देवो को तीर्थ प्रवर्त्तना की प्रेरणा देते हैं "वुज्झह ."

किल्विषिक—अन्त्यज के समान, कलुषित मनोवृति वाले देव, किल्विष का अर्थ है पाप, चाण्डाल वृति, तथा ऐसी वृति है जिसकी, नारकी जीवो को नाना प्रकार के दुख देने वाले होने से परमाधार्मिक है।

जृम्भक—अत्यधिक क्रीडाशील होने से ये जृम्भक कहलाते है।

अजीव तत्त्व

दूसरा

अजीव किसे कहते है ?

"जो पुण्य-पपादि कर्म का कर्त्ता नही, सुख-दुख का भोक्ता नही, चेतना, योग, प्राण-पर्याप्ति आदि से रहित तथा जड लक्षण सहित है।" अथवा जीव से भिन्न दूसरा अजीव है 'यो जीवो न भवति स अजीव" (Non-living being)

[अजीव तत्त्व तीन भागो मे विभक्त है — जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट। जघन्य पाच भेद, मध्यम चौदह और उत्कृष्ट पाच सौ साठ भेद है]

जघन्य भेद—

१. धर्मास्तिकाय
२. अधर्मास्तिकाय
३. आकाशास्तिकाय
४. काल
५. पुद्गल

[स्था० ५/२/१/]

*मध्यम भेद—

१. धर्मास्तिकाय के तीन भेद —स्कन्ध, देश, प्रदेश
२. अधर्मास्तिकाय के तीन भेद— ,, ,, ,,

---

*धम्माधम्माऽगासा तिअ तिअ भेया तहेव अद्धा य,
खंधा-देस-पएसा, परमाणु अजीव चउदसहा।—नव० ५०

३. आकाशास्तिकाय के तीन भेद—स्कन्ध, देश, प्रदेश
४. काल का एक भेद—सम्पूर्ण काल द्रव्य
५. पुद्गलास्तिकाय के चार भेद—स्कन्ध, देश, प्रदेश, परमाणु

[उत्ता० ३६/५/६/१०]

[अजीव तत्त्व दो प्रकार का है रूपी और अरूपी, अरूपी तीस प्रकार का है तथा रूपी अजीव के पाच सौ तीस भेद है अर्थात् अजीव तत्त्व के उत्कृष्ट पाच सौ साठ (५६०) भेद है जिस मे तीस अरूपी और ५३० रूपी है]

उत्कृष्ट भेद–

×तीस अरूपी ×स्कन्ध आदि की अपेक्षा

१. धर्मास्तिकाय के तीन भेद –स्कन्ध, देश, प्रदेश,
२. अधर्मास्तिकाय के तीन भेद—स्कन्ध, देश, प्रदेश,
३. आकाशास्तिकाय के तीन भेद—स्कन्ध, देश, प्रदेश,
४. काल का एक भेद—कालद्रव्य संपूर्ण, एवं=१०

[समवायाग]

द्रव्य आदि की अपेक्षा‡

१. धर्मास्तिकाय के पांच भेद—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण.
२. अधर्मास्तिकाय के पांच भेद—,, ,, ,, ,, ,,
३. आकाशास्तिकाय के पांच भेद–,, ,, ,, ,, ,,

‡धम्माधम्मागासा तियतिअ भेया तहेव अद्धाय
॥ ॥ चउसु वि दव्वे-खित्ते-काले य भाव गुणे।

४. काल द्रव्य के पांच भेद—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण, (स्था० ५)

धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक है, क्षेत्र से लोक परिमाण है (अर्थात् धर्मास्तिकाय का अस्तित्त्व लोक में ही है अलोक में नहीं) काल से अनादि अनन्त है (अर्थात् कभी आदि नहीं हुई और न ही अन्त होगा) भाव से अरूपी-वर्ण-गन्ध-रसादि से रहित, गुण से गति लक्षण, उदाहरण; मछली की गति में पानी।

अधर्मास्तिकाय द्रव्य से एक है, क्षेत्र से लोक परिमाण है, काल से अनादि अनंत है, भाव से अरूपी है, गुण से स्थिर गुण वाली है। उदाहरणः- पथिक को छाया का आधार।

आकाशास्तिकाय द्रव्य से एक है, क्षेत्र से लोक-अलोक परिमाण है, काल से अनादि-अनन्त है तथा भाव से अरूपी है और गुण से अवकाश गुणवाली-स्थान देना ही गुण है। उदाहरणः दूध में बतासा, दिवारमें कील।

काल द्रव्य अनन्त है, क्षेत्र से अढाई द्वीपां परिमाण काल से अनादि-अनन्त है, भाव से अरूपी है तथा गुण से वर्त्तना गुण वाला है अर्थात् वस्तु को नयी से पुरानी, पुरानी को नष्ट कर नवीन का निर्माण करना, उदाहरणः- वस्त्र को कैंची, अथवा जैसे नूतन वस्त्र जीर्ण हो जाता है।

इस प्रकार $\frac{5 \times 4}{20}$ बीस + १० पहले = ३० भेद हुए।

रूपी पुद्गल ५३०

[पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस, आठ स्पर्श, पाच सस्थान, ये पच्चास प्रकार के रूपो पुद्गल (अजीव) हे। इन के अवान्तर भेद पाच सौ तीस (५३०) है। *]

पाच वर्ण

१ काला, २ नीला, ३ पीला, ४ लाल, ५ श्वेत रंग,

काले रंग का करिये भाजन, चार (रंग) रखिये प्रतिपक्षी बोल पावें बीस, २० जैसे, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, पांच संस्थान = २० काले वर्ण के,

नीले रंग का करिये भाजन, चार रखिये प्रति पक्षी बोल पांवे बीस, जैसे, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, पांच संस्थान = एवं बीस, नीले रंग के,

पीले रंग का करिये भाजन, चार रखिये प्रति पक्षी बोल पावें बीस, जैसेः २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, पांच संस्थान = एवं बीस, पीले रंग के,

लाल रंग का करिये भाजन, चार रखिये प्रति पक्षी, बोल पावें बीस, जैसेः २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, ५ संस्थान एवं २०. लाल रंग के।

श्वेत रग का करिये भाजन, चार रखिये प्रति पक्षी, बोल

---

*सठाण वण्ण रसया गधे, फासे अ तिन्निसय कमसो।
छयालिस मेया चुलसीय सय सरूवीण।—राग०

पावें वीस, जैसे: २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, ५ संस्थान एवं वीस, श्वेत रंग के।

[इस प्रकार पाच वर्णो के २०+२०+२०+२०+२०=१०० भेद हुए।]

दो गन्ध

१ सुरभि गन्ध, २ दुरभिगन्ध (सुगन्धि, दुर्गन्ध)

सुगन्धि का करिये भाजन, दुर्गन्ध रखिये प्रति पक्षी, बोल पावे तेईस, जैसे: पांच वर्ण, पांच रस, आठ स्पर्श, पांच संस्थान एवं २३,

दुर्गन्ध का करिये भाजन सुगन्धि रखिये प्रतिपक्षी बोल पावें तेईस, जैसे: पांच वर्ण, पांच रस, आठ स्पर्श, पांच संस्थान एवं २३।

[गन्ध के २३+२३=४६ भेद हुए]

पाच रस

कड़वा, कसैला, खट्टा, मीठा, तीखा*

कड़वे रस का करिये भाजन, पांच रखिये प्रति पक्षी, बोल पावे वीस, जैसे: पांच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, पांच संस्थान एवं २०,

कसैले का करिये भाजन, चार रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें वीस, जैसे: पांच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, पांच संस्थान,

---

*कटुक, कषाय आम्ल, मधुर, तिक्त। तित्त, कसाया अंबिला महुरा तित्ते य।

द्वीन्द्रिय—जो इन्द्रियाँ—स्पर्शन-रसना जिह्वा प्राप्त हो, सीप, जोंक आदि। Two sensed-being.

त्रीन्द्रिय—जिन्हें तीन इन्द्रियाँ—स्पर्शन-रसना-घ्राण नासिका प्राप्त हो; जूं, खटमल, मकड़ी आदि। Three sensed-being.

चतुरिन्द्रिय—जिन्हें चार इन्द्रियाँ—पूर्वोक्त तीन और नेत्र प्राप्त हो, मक्खी, भंवरा आदि। Four sensed-being.

पंचेन्द्रिय—पांच इन्द्रिय वाले। मनुष्य, पशु आदि।

अप्काय—जल, तेजस्—अग्नि। Five sensed being.

पर्याप्तक—पूर्ण प्राप्ति वे जीव जिन्हों ने स्वयोग्य जितनी जिस में होनी चाहिए, पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं पर्याप्त हैं।

अपर्याप्तक—वे जीव जिन को स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हों (Not capable of development.)

सूक्ष्म—बारीक, जो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी दिखाई न दे सके Invisible, minute, fine.

बादर—अपेक्षाकृत स्थूल, जो चर्म चक्षुओं से दिखाई दे सकें Gross, visible.

प्रत्येक—जिस शरीर का एक ही जीव स्वामी हो उसे प्रत्येक शरीर कहते हैं। जैसे द्वीन्द्रिय आदि। A constitution in which one body.

साधारण—जिस शरीर के अनेक जीव स्वामी हों वह साधारण है। जैसे एकेन्द्रिय जीव। Having infinite souls

संज्ञी—मनवाले जीव संज्ञी कहलाते हैं और बिना मन वाले

असञ्ज्ञी। अथवा सञ्ज्ञी का अर्थ है सञ्ज्ञा वाले, तथा सञ्ज्ञा का अर्थ है हित-अहित की विचारणा। यह विना मन के नही होती अत इन्द्रियो के साथ जिन जीवो के पास मन होता है वे सञ्ज्ञी कहे जाते हैं।

जघन्य—कम से कम, जिस से कम न हो least.

उत्कृष्ट—अधिक से अधिक, जिससे और अधिक न हो। Highest limit.

भवन पति (वासी)—वे देव जो भवनो* मे रहते है भवनवासी कहलाते है।

वाण व्यन्तर—वे देव जो वन-उपवन मे रहते है तथा जो स्वभाव से अधिक क्रीडा शील है। इस लिए वनचारी-(वाण-व्यन्तर कहलाते हैं अथवा नाना अन्तरो-छिद्रो वाले स्थान विशेष मे तथा गुफा, कन्दरा, विल आदि मे रहने से व्यन्तर कहे जाते हैं।

ज्योतिषी—जिनके विमान प्रकाश करते हैं, ऐसे विमान मे रहने वाले देव ज्योतिषी कहे जाते हैं। अथवा जो लोक मे प्रकाश करते है।

वैमानिक—अतिशय सुन्दर विमानो मे रहने वाले देव वैमानिक कहलाते है।

ग्रैवेयक—लोक पुरुष की ग्रीवा—गर्दन की आकृति की तरह जो शोभित है ऐसे विमानो मे रहने वाले देव ग्रैवेयक कहे गये है।

---

*एक लाख अस्सी हजार योजन की मोटाई वाली रत्नप्रभा के पृथ्वी पिण्ड में से एक १ योजन ऊपर नीचे छोड़ कर एक लाख अठहत्तर हजार योजन के मध्य-भाग में भवनवासी देवों की सात भवन कोटिया है तथा १ लाख ७२ हजार भवन है।

अनुत्तर—जिन देवो से अन्य देव आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या आदि मे उत्तर-प्रधान नही है वे अनुत्तर वैमानिक कहलाते है।

अर्थात् ये देव उत्तरोत्तर महर्धिक है। पहले दूसरे देवलोक तक ही देव-देवियो का आवास है। बारहवे देवलोक तक कल्प-मर्यादा भाव यानि इन्द्रादि का रूप है आगे इन्द्रवत् होने से अहमिन्द्र अवस्था है। मनुष्य लोक मे यदि किसी कारण से देवो का आना हो तो कल्पोपन्न ही आते है कल्पातीत नही। यू तो उर्ध्व लोक मे सभी देव विमानो मे ही रहते है किन्तु यहा जाति, स्वभाव आदि की विशेषता के कारण भिन्न नामकरण है।

लौकान्तिक—ब्रह्मलोक के समीप कृष्ण राजी क्षेत्र मे सारस्वत आदि विमानो के रहने वाले सोम आदि देव, लोकपाल, दिशाओ के देव, ये देव विषय-रति से रहित होते है अत. औदयिक भाव लोक के अन्त हो जाने पर दूसरे जन्म मे मोक्ष प्राप्त कर लेते है इस लिए लोकान्तिक देव कहलाते हे। तीर्थंकर देवो को तीर्थ प्रवर्त्तना की प्रेरणा देते है "बुज्झह "

किल्विषिक—अन्त्यज के समान, कलुषित मनोवृति वाले देव, किल्विष का अर्थ है पाप, चाण्डाल वृति, तथा ऐसी वृति है जिसकी, नारकी जीवो को नाना प्रकार के दुख देने वाले होने से परमाधार्मिक है।

जृम्भक—अत्यधिक क्रीडाशील होने मे ये जृम्भक कहलाते है।

अजीव तत्त्व

दूसरा

अजीव किसे कहते है ?

" जो पुण्य-पपादि कर्म का कर्त्ता नही, सुख-दुख का भोक्ता नही, चेतना, योग, प्राण-पर्याप्ति आदि से रहित तथा जड लक्षण सहित है।" अथवा जीव से भिन्न दूसरा अजीव है 'यो जीवो न भवति स अजीव" (Non-living being)

[अजीव तत्त्व तीन भागो मे विभक्त है – जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट। जघन्य पाच भेद, मध्यम चौदह और उत्कृष्ट पाच सौ साठ भेद हैं]

जघन्य भेद—

१. धर्मास्तिकाय
२. अधर्मास्तिकाय
३. आकाशास्तिकाय
४. काल
५. पुद्गल

[स्था० ५/३/१/]

*मध्यम भेद—

१. धर्मास्तिकाय के तीन भेद—स्कन्ध, देश, प्रदेश
२. अधर्मास्तिकाय के तीन भेद— ,, ,, ,,

*धम्माधम्माऽगासा तिअ तिअ भेया तहेव अद्धा य,
खंधा-देस-पएसा, परमाणु अजीव चउदसहा।—नव० प०

३. आकाशास्तिकाय के तीन भेद—स्कन्ध, देश, प्रदेश
४. काल का एक भेद—सम्पूर्ण काल द्रव्य
५. पुद्गलास्तिकाय के चार भेद—स्कन्ध, देश, प्रदेश, परमाणु

[उत्त० ३६/५/६/१०]

[अजीव तत्त्व दो प्रकार का है रूपी और अरूपी, अरूपी तीस प्रकार का है तथा रूपी अजीव के पाच सौ तीस भेद है अर्थात् अजीव तत्त्व के उत्कृष्ट पाच सौ साठ (५६०) भेद है जिस मे तीस अरूपी और ५३० रूपी है]

उत्कृष्ट भेद—

×तीस अरूपी ×स्कन्ध आदि की अपेक्षा

१. धर्मास्तिकाय के तीन भेद —स्कन्ध, देश, प्रदेश,
२. अधर्मास्तिकाय के तीन भेद—स्कन्ध, देश, प्रदेश,
३. आकाशास्तिकाय के तीन भेद—स्कन्ध, देश, प्रदेश,
४. काल का एक भेद—कालद्रव्य संपूर्ण, एवं=१०

[समवायाग]

द्रव्य आदि की अपेक्षा‡

१. धर्मास्तिकाय के पांच भेद—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण,
२. अधर्मास्तिकाय के पांच भेद—,, ,, ,, ,, ,,
३. आकाशास्तिकाय के पांच भेद—,, ,, ,, ,, ,,

---

‡धम्माधम्मागामा नियनिश्र भेया तेहेव अद्धाय
" " चउसु त्रि दव्वे-खित्तो-काले य भा' गुणे।

४. काल द्रव्य के पांच भेद—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण, (स्था० ५)

धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक है, क्षेत्र से लोक परिमाण है (अर्थात् धर्मास्तिकाय का अस्तित्व लोक में ही है अलोक में नहीं) काल से अनादि अनन्त है (अर्थात् कभी आदि नहीं हुई और न ही अन्त होगा) भाव से अरूपी—वर्ण-गन्ध-रसादि से रहित, गुण से गति लक्षण, उदाहरण; मछली की गति में पानी।

अधर्मास्तिकाय द्रव्य से एक है, क्षेत्र से लोक परिमाण है, काल से अनादि अनंत है, भाव से अरूपी है, गुण से स्थिर गुण वाली है। उदाहरण:- पथिक को छाया का आधार।

आकाशास्तिकाय द्रव्य से एक है, क्षेत्र से लोक-अलोक परिमाण है, काल से अनादि-अनन्त है तथा भाव से अरूपी है और गुण से अवकाश गुणवाली—स्थान देना ही गुण है। उदाहरण; दूध में बताशा, दिवार में कील।

काल द्रव्य अनन्त है, क्षेत्र से अढाई द्वीप परिमाण काल से अनादि-अनन्त है, भाव से अरूपी है तथा गुण से वर्त्तना गुण वाला है अर्थात् वस्तु को नयी से पुरानी, पुरानी को नष्ट कर नवीन का निर्माण करना, उदाहरण:- वस्त्र को कैंची, अथवा जैसे नूतन वस्त्र जीर्ण हो जाता है।

इस प्रकार ५×४ = २० बीस + १० पहले = ३० भेद हुए।

रूपी पुद्गल ५३०

[पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस, आठ स्पर्श, पाच सस्थान, ये पच्चास प्रकार के रूपी पुद्गल (अजीव) हैं। इन के अवान्तर भेद पाच सौ तीस (५३०) है। *]

पाच वर्ण

१ काला, २ नीला, ३ पीला, ४ लाल, ५ श्वेत रंग,

काले रंग का करिये भाजन; चार (रंग) रखिये प्रतिपक्षी बोल पावें बीस, २० जैसे, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, पांच संस्थान = २० काले वर्ण के,

नीले रंग का करिये भाजन, चार रखिये प्रति पक्षी बोल पांवे बीस, जैसे, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, पांच संस्थान = एवं बीस, नीले रंग के,

पीले रंग का करिये भाजन, चार रखिये प्रति पक्षी बोल पावें बीस, जैसेः २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, पांच संस्थान = एवं बीस, पीले रंग के,

लाल रंग का करिये भाजन, चार रखिये प्रति पक्षी, बोल पावे बीस, जैसेः २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, ५ संस्थान एवं २०, लाल रंग के।

श्वेत रग का करिये भाजन, चार रखिये प्रति पक्षी, बोल

*सठाण वण्ण रसया गंधे, फासे अ तिन्निसय कमसो।
छयालीस भेया चुलसीय सय सरूवीए।—सग०

पावे बीस, जैसेः २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, ५ संस्थान एवं बीस, श्वेत रंग के।

[इस प्रकार पाच वर्णों के २०+२०+२०+२०+२०=१०० भेद हुए।]

दो गन्ध

१ सुरभि गन्ध, २ दुरभिगन्ध (सुगन्धि, दुर्गन्ध)

सुगन्धि का करिये भाजन, दुर्गन्ध रखिये प्रति पक्षी, बोल पावे तेईस, जैसेः पांच वर्ण, पांच रस, आठ स्पर्श, पांच संस्थान एवं २३,

दुर्गन्ध का करिये भाजन सुगन्धि रखिये प्रतिपक्षी बोल पावे तेईस, जैसेः पांच वर्ण, पांच रस, आठ स्पर्श, पांच संस्थान एवं २३।

[गन्ध के २३+२३=४६ भेद हुए]

पाच रस

कडवा, कसैला, खट्टा, मीठा, तीखा*

कडवे रस का करिये भाजन, पांच रखिये प्रति पक्षी, बोल पावें बीस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, पांच संस्थान एवं २०,

कसैले का करिये भाजन, चार रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें बीस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, पांच संस्थान,

---

*कटुक कषाय आम्ल, मधुर, तिक्त। कडुय, कसाया अंबिला महुरा तित्ते य।

एवं २३,

खट्टे रस का करिये भाजन, चार रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें वीस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, पांच संस्थान, एवं २०,

मीठे रस का करिये भाजन, चार रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें बीस, जैसे पांच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, पांच संस्थान, एवं २०,

तीखे रस का करिये भाजन, चार रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें वीस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, पांच संस्थान, एवं २० ।

[पाच रस के सौ भेद हुए]

आठ स्पर्श

कठोर, नरम, हल्का, भारी, गर्म, ठंडा, रूखा, चिकना,

कठोर का करिये भाजन, नरम रखिये प्रति पक्षी, बोल पावें तेईस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, छह स्पर्श, पांच संस्थान एवं २३,

नरम का करिये भाजन, कठोर रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें तेईस जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, छह स्पर्श, पांच संस्थान, एवं २३,

हल्के का करिये भाजन, भारी रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें

तेईम, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पॉच रस, छह स्पर्श, पांच संस्थान, एवं २३,

भारी का करिये भाजन हल्का रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें तेईस जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, छह स्पर्श, पांत्र संस्थान एवं २३,

गर्म का करिये भाजन, ठंडा रखिये प्रतिपक्षी बोल पावें तेईस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, छह स्पर्श, पाँच संस्थान, एवं २३,

ठंडे का करिये भाजन, गर्म रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें तेईस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, छह स्पर्श, पांच संस्थान एवं २३,

चिकने का करिये भाजन, रूखा रखिये प्रतिपक्षी बोल पावें तेईस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, छह स्पर्श, पांच संस्थान एवं २३,

[इस प्रकार आठ स्पर्शों के २३×८=१८४ भेद हुए]

[उत्त० ३६/१६० ४७]

पाच संस्थान

परिमण्डल, वर्त्तुल, त्र्यंस=(त्रिकोण), चतुष्कोण (चौकोण) आयत।

परिमण्डल वट्ट तंस, चउरंस आयय

परिमण्डल संस्थान का करिये भाजन, चार रखिये प्रतिपक्षी बोल पावें वीस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श एवं २०

वर्त्तुल संस्थान का करिये भाजन, चार रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें वीस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, एवं २०

त्र्यंस्र संस्थान का करिये भाजन, चार रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें वीस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, एवं २०

चतुष्कोण संस्थान का करिये भाजन, चार रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावे वीस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, एवं वीस,

आयत संस्थान का करिये भाजन, चार रखिये प्रतिपक्षी, बोल पावें वीस, जैसेः पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श एवं वीस,

[इस प्रकार पाँच सस्थानो के २०×५/१०० सौ भेद हुए। सौ भेद वर्णों के, छियालीस गन्ध के. सौ रस के, एक सौ चौरासी स्पर्शों के, एव पाच सौ तीस भेद रूपी अजीव (पुद्गल) के हैं तथा तीन भेद अरूपी अजीव के हैं ५३०+३०=५६० भेद है।

[उत्त० ३६ १६-४७

परिभाषा

प्रत्यक्ष रूप मे दिखाई देने वाले जीव-अजीव द्रव्यो के अतिरिक्त जैन दर्शन ने कई ऐसे द्रव्यो का निरूपण किया है जो आज वैज्ञानिको तथा दार्शनिको के लिए उलझन बने हुए हैं। अन्य दर्शन जीव के साथ उस अजीव को ही स्वीकार करते हैं जिसे हमारी आखे देखती है वह है प्रकृति, पुद्गल आदि। किन्तु यह धर्म, अधर्म आकाशादि, ऐसे अदृश्य, अग्राह्य, अगोचर एव जड द्रव्यो का उल्लेख करता है जो जीव और पुद्गल के सहायक हैं, आश्रय है, आधार भूत है। धर्म का प्रचलित अर्थ ही यहा अभिप्रेत नहीं बल्कि विशेष अर्थ है जिस का वर्णन आगे होगा और उन्ही जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल के कारण ही लोक का अस्तित्त्व माना गया है—"एस लोगो त्ति पन्नत्तो" जहाँ ये नही पाये जाते वही अलोक है। हाँ तो ये तत्त्व द्रव्य कहलाते है, द्रव्य का अर्थ है द्रवित होना, प्रवाहित होना। ससार के पदार्थ उत्पन्न होते है, समय पाकर नष्ट होते है फिर भी उन का प्रवाह सतत गति से चलता ही रहता है। इस प्रकार तत्त्व के तीन रूप ही निश्चित होते है—उत्पन्न होना नष्ट होना, ध्रुव बना रहना।

जैसे मिट्टी से घडा बनता है, तो घडे की उत्पत्ति होती है और मिट्टी का नाश हो जाता है, मिट्टी और घड़ा दोनो रूपो मे सामान्य तत्त्व ध्रौव्य है। इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश की धारा मे भी पदार्थ का ध्रुव रूप सुरक्षित रहता है। इसी लिए इस त्रिअ शात्मक वस्तु को सत् कहते है। सत् के सम्बन्ध मे भी भिन्न २ विचार है किन्तु जैन दर्शन सत् को कूटस्थ नित्य नही बल्कि परिणामी नित्य-नित्यानित्य मानता है—परिणामी का अर्थ है मूल अवस्था को न छोडते हुए भिन्न २ अवस्थाओ मे परिवर्तित होते रहना है। अत

धर्म आदि द्रव्य भी नित्य होने पर भी परिणामी है। हाँ तो इनका कार्य है जोव और पुद्गल की गति-स्थिति आदि मे सहायक होना है। अर्थात् "गति क्रिया मे परिणत जीव और पुद्गल की गति मे सहायक होना है, जैसे पानी मछली को और पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित नही करते, फिर भो पानो के बिना मछली और पटरी के अभाव मे रेल नही चल सकती; इसी प्रकार धर्म द्रव्य किसो को गमन–जाने के लिए वाधित नही करता फिर भी उसके अभाव मे गति सभव नही है।"

इसी प्रकार अधर्म द्रव्य है किन्तु इसका काम जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक होना है। जैसे ताप से झुलते हुए मनुष्य को छाया देखकर विश्राम करने की स्वयमेव रुचि जागृत होती है अत छाया उसकी विश्रॉति मे निमित्त है। उसी प्रकार स्थिति परिणत जीव और पुद्गल की स्थिति मे अधर्म द्रव्य सहायक है।

शेप वर्णन आगे दिया जा रहा है—

धर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गलो की गति (Motion) मे सहायक रूप शक्ति विशेष को धर्मास्तिकाय कहते है। (Medium of motion for souls and matter) जैसे मछली की गति मे जल सहायक है। अथवा वह शक्ति (Energy) जिस मे वर्ण, गन्ध रस, स्पर्श का अभाव हो, अरूपी हो, अक्रिय तथा अखण्ड हो, जीव और पुद्गल के चलने मे आधार भूत हो धर्मास्तिकाय है।

अधर्मास्तिकाय—वह शक्ति विशेष जो जीव और पुद्गल को ठहराने मे (स्थित रहने मे) सहायक हो, जैसे घाम मे पीडित पद-यात्री के ठहरने मे छाया सहायक होती है। (The medium of rest or principle of stability)

आकाशास्तिकाय—जो जीव और पुद्गल को अवकाश—स्थान,

आश्रय दे ऐसी शक्ति विशेष के समूह को आकाश कहते है अर्थात् शून्य, (Space) जैसे दूध चीनी, बतासा को अवकाश देता है, दिवाल कील को जगह देती है, इसी प्रकार इस शून्य मे जीव और पुद्गल घूमते रहते है।† आकाश का कोई आधार नही है।

काल–वस्तुओ के परिणमन अर्थात् परिवर्तन मे सहकारी रूप शक्ति को काल कहते हैं। अथवा जो नवीन वस्तु को पुरानी (जीर्ण) तथा पुरानी को नष्ट करे अर्थात् काल के व्यतीत होने के साथ वस्तु भी अपने रूप से परिवर्तत हो जाती है, जैसे बाल्यावस्था, यौवनावस्था तथा वृद्धावस्था मे बदल जाती है। (Time) जैसे कैंची वस्त्र के स्वरूप को वदलने मे सहायक रूप है। वस्तु के जीर्णादि होने मे काल निमित्त है।

काल दो प्रकार का है—निश्चय काल, व्यवहार-काल,

स्कन्ध–(अनन्त) अणुओ के समुदाय को स्कन्ध कहते है। अथवा सम्पूर्ण पुद्गल पिण्ड स्कन्ध कहलाता है। A collection of various particales or complet thing.

देश–स्कन्ध के (वुद्धि कल्पित) भाग को देश कहते हैं। A part, a dvision of a group.

प्रदेश–स्कन्ध या देश मे मिले हुए अति सूक्ष्म भाग को प्रदेश या निरंश अंश कहते है। (Indivisible partical of Dharma etc.)

परमाणु–जिसका विभाग न हो सके तथा जो स्कन्ध से अलग हो चुका हो वह परमाणु कहलाता है। अथवा पुद्गल का वह अति सूक्ष्म भाग जिसके टुकडे न किये जा सकें परमाणु-पुद्गल है।

† That substance which gives space for the soul and matter to live

(Atoms)

संस्थान—जड अथवा चेतन पदार्थों की बनावट—आकृति को सस्थान कहते है। किन्तु यहाँ अजीव सस्थान से ही अभिप्राय है। Shape.

परिमण्डल=चूडी का आकार, वर्तुल, वृत्त=गोलाकार, त्र्यस्र=त्रिकोण, सिंघाडे की तरह, चतुष्कोण=चौकोण, चार कोने वाला, चौकी आदि। आयत=दीर्घाकार, लम्बा आकार, बास आदि।

रूपी—(सामान्यतया जिन्हे नेत्र आदि इन्द्रिया भली प्रकार से ग्रहण कर सके, देख सके) अथवा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि तत्त्व से युक्त पदार्थ रूपी है। इसे मूर्त्त भी कहते है। (Material substance, corporeal substeuce)

अरूपी—जो पदार्थ वर्णादि से रहित है वे अरूपी या अमूर्त्त कहलाते है। Non-material) Imcorporeal substance.

पुद्गल— जिस पदार्थ मे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तथा सयोग वियोग गलन-सडन, विध्वसन, निर्माण, सहार, एकत्व-पृथक्त्व, ध्वनि धूप, छाया, प्रकाश, आदि गुण-स्वभाव पाये जाए वह पुद्गल है। अथवा दिखाई देने वाली वस्तुए तथा कर्माणु जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नही तथापि वर्णादि से युक्त होने पर पुद्गल कहलाती है। ‡ (Matter and energy)

द्रव्य— द्रव्य का सामान्य अर्थ तो वस्तु है, अर्थात् उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय रूप स्थिति तथा गुण और पर्याय रूप लक्षणो वाले तत्त्व को द्रव्य कहते है। Snbstance, an object. † उत्पाद= उत्पन्न होना, ध्रौव्य-स्थिर रहना तथा व्यय=नष्ट होजाना, ये तीन

‡ सद्दन्धयार उज्जोअ, पभा छायाऽऽतवे वा. † देखो पृष्ठ [illegible] का फुटनोट
वण्ण-गन्ध-रसा-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं।—उत्त० २८।१२

अवस्थाए प्रत्येक वस्तु मे पाई जाती है। किन्तु 'द्रव्य से' तात्पर्य यहा वस्तु की सख्या से है कि अमुक द्रव्य कितना है, एक, दो, सख्यात, असख्यात अथवा अनन्त।

क्षेत्र— का सामान्य अर्थ स्थान विशेष है किन्तु उस स्थान का समावेश लोक-अलोक मे हो जाता है क्योकि लोक-अलोक ही वास्तविक क्षेत्र है, आकाश रूप है अत इसी मे ही सारे पदार्थ अवस्थित है। यू तो जो वस्तु जहा रहती है अथवा पाई जाती है वही उस का क्षेत्र होता है किन्तु धर्म-अधर्म आदि द्रव्यो का अस्तित्व लोक और अलोक मे भी है अत इस वस्तु का अस्तित्व लोक मे है, अलोक मे है अथवा दोनो मे है, यह वतलाना ही क्षेत्र का उद्देश्य है।

काल— से अभिप्राय वस्तु की स्थिति—मयाद Duration है, अमुक वस्तु अपने रूप मे कव तक स्थित रहेगी अथवा उस की आदि-अन्त की विचारणा काल द्रव्य से होती है।

भाव— का तात्पर्य वस्तु के आन्तरिक स्वरूप से अथवा गुण से है। अमुक द्रव्य रूपी (मूर्त्त; है, अरूपी (अमूर्त्त) है। Reality.

गुण— वस्तु की विशेपता या स्वभाव को गुण कहा जाता है। क्योकि गुण से युक्त ही द्रव्य होता है और द्रव्य के आश्रित गुण रहते हैं (quality)

अत धर्म आदि द्रव्यो के अपने २ गुण है। गति लक्षण वाला धर्म द्रव्य है स्थिति लक्षण वाला अधर्म है, सर्व द्रव्यो का भाजन-पात्र रूप आकाश, अवगाह लक्षण वाला है आदि। †

† गइ लक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाण लक्खणो,
भायणं सव्व दव्वाणं, नह ओगाह लक्खणो।
वत्तणा लक्खणो कालो, जीवो उवओग लक्खणो।—उत्त० २८।

पुण्य तत्त्व

तीसरा

पुण्य किसे कहते है ?

"वह क्रिया जो आत्मा को पवित्र करती है, तथा जिस का करना कठिन है, भोगना सुखकारी है, निर्जरा मे सहायक है, तथा जिसका फल (परिणाम) मीठा हो वह पुण्य है। अथवा जिस कर्म से जीव को अनुकूल भौतिक, तथा आध्यात्मिक साधनो की प्राप्ति हो उसे पुण्य (कर्म) कहते है।"

[कर्म की दृष्टि से तो पुण्य एक ही प्रकार का है किन्तु क्रिया भेद से पुण्य नव प्रकार का है। इस मे सभी प्रकार की शुभ क्रियाओं का समावेश हो जाता है।]

पुण्य के नव भेद—

१ अन्न पुण्य	५ वस्त्र पुण्य
२ पान पुण्य	६ मनः पुण्य
३ लयन पुण्य	७ वचन पुण्य
४ शयन पुण्य	८ काय पुण्य

९ नमस्कार पुण्य

(स्था० ९)

[उक्त पुण्य से निम्नलिखित बयालीस (४२) प्रकार की भौतिक सामग्री प्राप्त होती है जिससे मनुष्य आदि जीव सुखपूर्वक

जीवन व्यतीत करता हुआ आत्म-कल्याण कर सकता है।]

इन चार कर्मो (वेदनीय, आयु नाम, गोत्र) के उदय भाव से पुण्य बयालीस ४२ प्रकार से भोगा—अनुभव किया जाता है।

४२ पुण्य प्रकृतिएँ—†

१. वेदनीय कर्म की एक प्रकृति—सातावेदनीय,

२. आयु कर्म की तीन प्रकृति—देव आयु, मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु‡

३. नाम कर्म की ३७ प्रकृति—*

१ गति नाम कर्म के दो भेद—मनुष्यगति, देवगति,

२ शरीर नाम कर्म के पाच भेद—पाच शरीर,

३ जाति नाम कर्म का एक भेद—सज्ञी पचेन्द्रिय

४ अगोपाग नाम कर्म के तीन भेद—औदारिक अगोपाग, वैक्रिय अगोपाग, आहारक अगोपाग।

५ सहनन नाम कर्म का एक भेद—वज्र ऋषभ नाराच सघयन,

६ सस्थान नाम कर्म का एक भेद—समचतुरस्र, (समचउरंस)

७ वर्ण नाम कर्म	शुभ वर्ण
८ रस नाम कर्म	शुभ रस

---

†सायं१ उच्चागोयं२ नर ३ तिरि ४ देवाउ५, नाम एयाउ
मणुय दुग, देवदुग पंचिंदियजाइ ९ तणुपणग१५ ।१।
अंगोवंग तियं पि य १८ संघयणं वज्जरिसहनारायं१९ ।
पढमं चिय संठाणं २० वण्णाइ चउक्क सुपसत्थं२४ ।२।
२५ अगुरु लहु २६ पराघायं २७ उस्सासं २८ आयवं च २९ उज्जोयं ।
३० सुपसत्था विहयगइ ३१ तसाइदसगं=४० च ४१ णिम्माणं ।३।
तित्थयरेण सहिया बायाला पुण्णपगईओ त्ति ।—स्था० टीका

‡युगलियों की दीर्घायु की अपेक्षा।

९ गन्ध नाम कर्म — शुभ गध

१० स्पर्श नाम कर्म — शुभ स्पर्श

११ आनुपूर्वी नाम कर्म के दो भेद–देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी,

१२ विहायोगति नाम कर्म का एक भेद—शुभ विहायोगति (चाल)

१३ प्रत्येक नाम कर्म की सात प्रकृति— †

१ पराधात नाम कर्म	२ उच्छ्वास नाम कर्म
३ आतप नाम कर्म	४ उद्योत नाम कर्म
५ अगुरु लघु नाम कर्म	६ निर्माण नाम कर्म
७ तीर्थंकर नाम कर्म	

१४ त्रस नाम कर्म की दस प्रकृति—‡

१ त्रस नाम कर्म	६ शुभ नाम कर्म
२ बादर नाम कर्म	७ सौभाग्य नाम कर्म
३ प्रत्येक नाम कर्म	८ सुस्वर नाम कर्म
४ पर्याप्त नाम कर्म	९ आदेय नाम कर्म
५ स्थिर नाम कर्म	१० यशोकीर्ति नाम कर्म

४. गोत्र कर्म का एक भेद—उच्च गोत्र

परिभाषा

जैन दर्शन आत्मा को शुद्ध, अकर्त्ता नित्य आदि मानता हुआ भी उसे परिणामी मानता है और परिणामी होने के कारण उसके प्रदेशो के परिस्पन्दन द्वारा कार्मण वर्गणा के कर्माणु उसकी ओर

---

‡ तस बायर पज्जत्त, पत्तेय थिर सुभ च सुभग य,
सुस्सर आइज्ज जस, तसाइ दसग इम होइ ।—नव०

आकृष्ट होते हैं जो आत्मा की स्थिति मे अन्तर डालने मे कारणभूत है। †

ये कर्माणु पुद्गल है तथा पुद्गल वर्णादि से युक्त माना गया है तो इस मे अनेक प्रकार की शक्ति (energy) होती है, जो जीव द्वारा ग्रहण किए हुए शरीर, मन आदि पर अपना प्रभाव डालती है और यही प्रभाव का अनुभव अच्छा और बुरा होने से शुभ-अशुभ फल कहा जाता है तथा इस के निमित्त उन पुद्गलो (कर्माणुओं) को कर्म प्रकृति और उन परिणामो को जिस के द्वारा ये पुद्गल आत्म-प्रदेशो की ओर आकृष्ट होते है, शुभ-अशुभ कहलाते हैं। ये क्रमश निमित्त और कार्य रूप है, दूसरे शब्दो मे द्रव्य और भाव कर्म है। और दर्शन की भाषा मे वे पुण्य और पाप कहे जाते हैं।

हा, तो पुण्य आत्मा का सहायक है, क्योंकि वह शुभ भावना द्वारा अर्जित किया जाता है और सुखद अनुभव है। तथा सुख की अनुभूति बिना पदार्थ के कैसे सभव है अत उन कर्मो के कारण जीव को देह आदि की शुभ सामाग्री प्राप्त होती है जिस के आश्रय से जीव शुभ क्रिया करता हुआ विकास दशा को प्राप्त हो जाता है इसीलिए कहा गया है "पुनातिपवित्रीकरोतिप्राणिन पापपका-दितिपुण्यम्" जो पाप पक-मल से मलिन प्राणी को पवित्र करे वह पुण्य है।

अन्नपुण्य—भूख मिटाने के लिए अन्नादि भोग्य पदार्थ का देना अन्न पुण्य है।

पान पुण्य—तृषा उपशान्ति के लिए पानी आदि पेय पदार्थों

---

† [illegible] पुद्गला परिणमन्ति,
[illegible] परिणाम: ।

का देना पान पुण्य है।

लयन पुण्य—से अभिप्राय स्थान से है अतः रहने के लिए भवनादि का देना लयन पुण्य है।

शयन पुण्य—सोने के लिए सहायक सामाग्री का देना शयन पुण्य है। जैसे, चारपाई, पाट, चौकी आदि।

वस्त्र पुण्य—गर्मी-सर्दी आदि से शरीर ढापने तथा लज्जा रक्षार्थ ऊन सूत आदि वस्त्रो का देना वस्त्र पुण्य है।

मनः पुण्य—अपने अथवा दूसरे के प्रति मन मे अनुकम्पा आदि के शुभ विचार रखना मन. पुण्य है अर्थात् दानरूप, शीलरूप, तप रूप तथा शुभ भाव रूप मन का रखना मन पुण्य है।

वचन पुण्य—दूसरे के प्रति हितकारी, प्रिय, एव शुभ वाणी का उच्चारण-बोलना वचन पुण्य है।

काय पुण्य—शरीर द्वारा दूसरे की सेवा, विनय, अभयदान आदि देना काय पुण्य कहलाता है।

नमस्कार पुण्य—अपने से अधिक गुणवान को नमस्कार करना नमस्कार पुण्य है।

विशेष ज्ञातव्य—

नव तत्त्व के प्रारम्भ मे बताया गया है कि 'पुण्य ज्ञेय है', "किन्तु वह व्यवहार को अपेक्षा कहा गया है, वस्तुतः पुण्य की तीन अवस्थाए है—ज्ञेय, उपादेय, और हेय। अर्थात् जानने योग्य, ग्रहण करने योग्य, त्यागने योग्य।

१ प्रथम अवस्था मे जब तक मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र उत्तम कुल, पूर्ण इन्द्रिय आदि जीवनोत्थान रूप साधन प्राप्त न हो तब तक पुण्य उपार्जन की अपेक्षा है अत उपादेय है। क्योंकि बिना पुण्य

के ये साधन प्राप्त नहीं होते ।

२ चारित्र प्राप्त हो जाने के वाद अर्थात् साधकावस्था मे पुण्य ज्ञेय है क्योंकि उस समय न तो मनुष्यादि साधनो को ग्रहण करने की इच्छा होती है और न ही छोडने की, क्योकि वे साधन मोक्षावस्था मे सहायक है ।

३ चरित्र की पूर्णता होने पर अर्थात् †चतुर्दश गुणस्थान —जीवनमुक्त दशा मे वह हेय हो जाता है क्योकि शरीर को विना छोडे मोक्ष प्राप्त नही हो सकता तो पुण्य भी एक प्रकृति है, कर्म है, अत सर्व प्रकृतियो के सर्वथा क्षय होने पर भी मोक्ष की प्राप्ति होती है—"कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्ष" इति वचनात् ।

इन तीनो अवस्थाओ के ज्ञान के लिए शास्त्रकारो ने एक सुगम रीति अपनायी है—दृष्यत की, जैसे नदी को पार करने के लिए किनारे पर खडे व्यक्ति के लिए नौका उपादेय है । उस नौका मे वैठे हुए व्यक्ति के लिए नौका ज्ञेय है अर्थात् न हेय है और न उपादेय है । दूसरे किनारे पर पहुचने के वाद नौका हेय है, क्योकि नौका को छोडे विना दूसरे किनारे पर स्थित अभिष्ट नगर की प्राप्ति नही होती, इसी तरह ससार रूपी समुद्र से पार होने के लिए पुण्य रूपी नौका की आवश्यकता है, इस समय उपादेय है किन्तु चौदहवे गुणस्थान मे पहुचने के पश्चात् मोक्ष रूप नगर की प्राप्ति के समय पुण्य हेय हो जाता है ।

वेदनीय—तलवार की धार पर लगे शहद के समान सासारिक सुख और दुख की वेदना—अनुभव जिस से हो वह वेदनीय कर्म है ।

---

† आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन की चौदह अवस्थाए है। देखें इसी पुस्तक के तीसरे भाग में ।

इस के दो भेद हैं—साता-वेदनीय और असातावेदनीय। सुख रूप सवेदना का कारण सातवेदनीय और दुख रूप सवेदना का कारण असातावेदनीय कर्म कहलाता है। यहा पुण्य मे सातावेदनीय का उदय भाव होता है।

आयुकर्म—जो कर्म जीव को मनुष्य, तिर्यच देव और नारक के शरीर मे नियत समय तक कैद रखता है। यह कर्म लोहे की बेडी के समान है, जिस के खुले विना स्वाधीनता का अनुभव नहीं हो सकता है।

नाम कर्म—चित्रकार विभिन्न रग सजो-सजो कर अपनी तूलिका की सहायता से नाना प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नाम कर्म जगत के प्राणियो के नाना आकार-प्रकार वाले शरीरो की रचना करता है।

गति नाम कर्म—जिस के प्रभाव से जीव, मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नारक, इन चार गतियो मे से एक गति को प्राप्त करता है उसे गति नाम कर्म कहते हैं। गति का अर्थ है Condition of existence. जिस अवस्था मे जीव रहता है।

जाति नाम कर्म—जिस के कारण जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पर्याय को प्राप्त करता है। जाति का अर्थ जन्म है किन्तु यहा समूह से अभिप्राय है। एक इन्द्रिय वाले जीवो का समूह एकेन्द्रिय जाति आदि। (class)

शरीर नाम कर्म—जिस से जीव को पाच प्रकार के शरीरो मे से गति के अनुरूप शरीर प्राप्त हो, शरीर नाम नर्म है।

अंगोपांग नाम कर्म—वह कर्म जिस के कारण शरीर के अगो

उपागो का निर्माण हो †। जानु (घुटना) भुजा, मस्तक, पीठ आदि अग है, अगुली आदि उपाग है, तथा अगुलियो की पर्व रेखा आदि मे अगोपांग कहलाते है। ये अगोपाग औदारिक, वैक्रिय और आहारक, इन तीन शरीरो के ही होते है। तैजस, कार्मण के नही।

सहनन नाम कर्म—जिस के द्वारा शरीर के अस्थि पजर की दृढ या शिथिल रचना होती है, सघयन का अर्थ है हड्डियो की रचना अथवा वन्ध विशेष। Formation of bony skeleton

वज्र ऋषभ नाराच—वज्र का अर्थ कील है, ऋषभ का अर्थ वेष्टन पट्ट (लेपन पट्टि) तथा नाराच से अभिप्राय दोनो ओर से मर्कट वन्ध। फलितार्थ यह हुआ कि जिस सहनन मे दोनो ओर से मर्कट वन्ध द्वारा जुडी हुई हड्डियो पर तीसरी पट्टी की आकृति वाली हड्डि का चारो ओर से वेष्टन हो और इन तीनो को वेधने वाली वज्र की भाँति कठोर हड्डि की कील हो उसे वज्र ऋषभ नाराच सहनन कहते है।

संस्थान नाम कर्म—सस्थान का अर्थ है वस्तु की आकृति, आकार (Frigures, forms of body) तथा जिस कर्म से शरीर की भिन्न२ आकृतिया वनती हो वह सस्थान नाम कर्म है।

समचतुरस्र शरीर की वह आकृति जो पालथी (चौकडी) मार कर वैठने पर जिस शरीर के चारो कोण—आसन से कपाल, दोनो घुटने, वाये घुटने से दाया कधा, दाये घुटने वायाँ कधा समान हो अर्थात् इन का अन्तर समान है। वह समचउरस सस्थान है। सम=वरावर, चतु=चार, अस्र=कोण।

वर्ण नाम कर्म—वर्ण का अर्थ है रग, colour. तथा जिस

† शरीर, सहनन, सस्थान आदि के लिए देख इसी पुस्तक का भाग दूसरा ॥

कर्म से शरीर मे काला-गोरा आदि रग उत्पन्न हो वह वर्ण नाम कर्म है।

गंध नाम कर्म—जिस कर्म से शरीर मे सुगन्ध-दुर्गन्ध उत्पन्न हो।

रस नाम कर्म—वह कर्म जिस से शरीर मे विविध रस उत्पन्न हो। रस से अभिप्राय यहा आस्वाद (taste) से है।

स्पर्श नाम कर्म—जिस कर्म से शरीर मे कोमल-कठोर आदि स्पर्श उत्पन्न हो। (Touching)

आनुपूर्वी नाम कर्म—नया शरीर धारण करने के लिए जीव को किसी नियत स्थान पर पहुचाने वाली शक्ति विशेष को आनुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं अथवा वह शक्ति विशेष जो जीव को अन्यत्र जाते हुए रोक कर गन्तव्य स्थान को ही ले जाती है।

विहायोगति नाम कर्म—विहायोगति का अर्थ गति-चाल है, यह दो प्रकार की है शुभ और अशुभ। पुण्य मे शुभ विहायोगति नाम कर्म है तथा जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हस, हाथी, बैल भाति शुभ हो उसे शुभ विहायोगति नाम कर्म कहते है।

ये चौदह भेद पिण्डप्रकृतिया कहलाती हैं।

पराघात नाम कर्म—जिस से जीव बलवानों दृष्टि मे भी अजेय मालम हो।

उच्छ्वास नाम कर्म—जिस कर्म के प्रभाव से जीव श्वासो-च्छ्वास लेता रहे। बाहर की वायु अन्दर और अन्दर की वायु को बाहर खीचने की क्रिया श्वासोच्छ्वास है।

आतप नाम कर्म—जिस से जीव का शरीर स्वय उष्ण न

हो कर भी उष्ण प्रकाश करता हो, अथवा उष्ण प्रकाश रूप शरीर बनाने वाला।

उद्योत नाम कर्म—जिस से शरीर का प्रकाश शीतल हो।

अगुरुलघु नाम कर्म—जिस से जीव का शरीर न शीशे की तरह भारी हो और न अर्कतूल (आक कीरुई) के समान अत्यन्त हलका ही हो।

निर्माण नाम कर्म—जिस कर्म के प्रभाव से शरीर के अगो की रचना सुघड एव योग्य हो निर्माण नाम कर्म है।

तीर्थंकर नाम कर्म—वह कर्म, जिस से जीव तीर्थंकर † बन कर त्रिलोक मे पूज्य होता है अर्थात् जिससे तीर्थंकर बनता है।

त्रस नाम कर्म—जिस कर्म के प्रभाव से जीव द्वीन्द्रियादि त्रस शरीर मे उत्पन्न हो।

बादर नाम कर्म—जिस कर्म से जोव को अपेक्षा कृत स्थूल (जो देखने मे आ सके) शरीर की प्राप्ति हो। Gross body.

पर्याप्त नाम कर्म—वह कर्म, जिस के प्रभाव से जीव अपनी पर्याप्तियो (शरीर-मन-इन्द्रियादि) से पूर्ण हो उसे पर्याप्त नाम कर्म कहते है।

प्रत्येक नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से एक शरोर का एक जीव ही स्वामी हो उसे प्रत्येक नाम कर्म कहते है। जैसे द्वीन्द्रियादि।

स्थिर नाम कर्म—जिससे शरीर के अ गोपॉग अपने अपने स्थान पर ही स्थिर रहे।

---

† "तीर्थमेव धर्म तम्यादिकर्त्तारौ तीर्थंकर" तीर्थ—धर्म की आदि करने वाले मार्गदर्शक, प्रवर्त्तक तिर्थंकर कहलाते है।

शुभ नाम कर्म—जिससे शरीर अवयव शुभ हो।

सुभग नाम कर्म—जिस कर्म के प्रभाव से जीव विश्व वल्लभता को प्राप्त करे वह सुभग नाम कर्म है।

सुस्वर नाम कर्म—जिसके प्रभाव से मृदु एव मधुर स्वर की प्राप्ति हो।

आदेय नाम कर्म—जिस कर्म से जीव का वचन आदरणीय (सर्वग्राह्य) हो उसे आदेय नाम कर्म कहते है।

यशःकीर्त्ति नाम कर्म—जिस कर्म के प्रभाव से जीव के यश. कीर्त्ति का प्रसार हो वह यश कीर्त्ति नाम कर्म है।

गोत्र कर्म—जैसे कुम्हार छोटे-वडे वर्तन वनाता है, उसी प्रकार जिस कर्म के प्रभाव से जीव प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित कुल मे जन्म लेता है, वह गोत्र कर्म है। यह दो प्रकार का है—उच्च गोत्र और नीच गोत्र।

† एक दिशा में फैलने वाली प्रशंसा कीर्त्ति कहलाती है तथा सर्व दिशाओं में फैलने वाली प्रशसा यश कहलाती है। पुण्य और दान से कीर्त्ति तथा पराक्रम और पुरुषार्थ से यश उत्पन्न होता है।

पाप तत्त्व

चौथा

पाप किसे कहते है ?

"जो आत्मा को मलिन करे ऐसे कर्म को पाप कहते हैं। अथवा जो अशुभ योगो से वाधा जाय, जिस का परिणाम कटु हो, प्रवृत्ति बुरी हो तथा जिस के प्रभाव मे जीव ससार मे दु ख प्राप्त करता हुआ जन्म-मरण करता रहे वह पाप है।" (Sin, a karmic bond due to wicked deeds, an evil deeds)

[पाप के अठारह भेद है अर्थात् इन अठारह कारणो से जो कि अशुभ हैं अनिष्ट हैं, जीव अशुभ परिणाम वाली प्रकृति का सचय अपने प्रदेशो पर करता है अत ये स्वय पाप है। स्थान शब्द यहां कारण का वाचक है।]

अठारह पाप स्थान—

१ प्राणातिपात	७ मान	१३ अभ्याख्यान
२ मृषावाद	८ माया	१४ पैशुन्य
३ अदत्तादान	९ लोभ	१५ पर-परिवाद
४ मैथुन	१० राग	१६ रति-अरति
५ परिग्रह	११ द्वेष	१७ माया-मृषा
६ क्रोध	१२ कलह	१८ मिथ्या दर्शन शल्य

[भग० १।९।६।]

पाप परिणाम—

[इन अठारह प्रकार से सञ्चित किए हुए पापो का प्रतिफल ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो के उदय भाव से बयासी प्रकार का होता है। अर्थात् पाप बयासी प्रकार से भोगा जाता है।†]

आठ कर्मो के नाम—

१ ज्ञानावरण कर्म	५ आयु कर्म
२ दर्शनावरण कर्म	६ नाम कर्म
३ वेदनीय कर्म	७ गोत्र कर्म
४ मोहनीय कर्म	८ अन्तराय कर्म

पाप की बयासी प्रकृतिएं

ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतिए—

१ मतिज्ञानावरण	३ अवधि ज्ञानावरण
२ श्रुत ज्ञानावरण	४ मनः पर्यव ज्ञानावरण

५ केवल ज्ञानावरण

† नाणनराय दसग १०दंसण णव १९मोहणीय छव्वीसं ४५
अस्सायं ४६ निरयाउ ४७नीयागोएण अडयाला ४८ ॥१॥
निरय दुग २निरिय दुग ४जाइ चउक्क च८ पंच संघयाणा १३।
संठाणाविय पच्च उ १८वण्णाइ चउक्कमपसत्थं २२॥२॥
उवघाय २३कुविहयगइ २४थावर दसगेण होंति चोत्तीस ३४।
सव्वाओ मिलियाओ वासीती पाव पगईओ ८२ ॥३॥—स्था० टी०

दर्शनावरणीय कर्म की नव प्रकृतिए—

(दर्शन चतुष्क)

१ चक्षुः दर्शनावरण
२ अचक्षुः दर्शनावरण
३ अवधि दर्शनावरण
४ केवल दर्शनावरण

(निद्रा पंचक)

५ प्रचला
६ प्रचला-प्रचला
७ निद्रा
८ निद्रा-निद्रा
९ स्त्यानगृद्धिका

वेदनीय कर्म की एक प्रकृति—

१ असाता वेदनीय

मोहकर्म की २६ प्रकृतिए—

[सोलह कषाय, नव नोकषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, ये छब्बीस प्रकृतियां मोह कर्म की है ।]

सोलह कषाय—

अनन्तानुबन्धी का चौक—(क्रोध, मान, माया, लोभ ।)

अनन्तानुबन्धी का क्रोध—जैसे पत्थर की रेखा,
,, का मान—जैसे वज्र का स्तम्भ,
,, की माया—जैसे बांस की जड़,
,, का लोभ—जैसे क्रिमची मजीठ का रंग ।

इन चारों की स्थिति आयु पर्यन्त की, घात करें सम्यक्त्व की तथा गति नरक की ।

अप्रत्याख्यानी का चौक—(क्रोध, मान, माया, लोभ ।)

अप्रत्याख्यानावरण का क्रोध—जैसे सूखे हुए तालाब की रेखा (दरार),

,, का मान—जैसे हाड़ का स्तम्भ,

,, की माया—जैसे मेढ़े के सींग का वल,

,, का लोभ—जैसे नगर के नाले के कीचड़ का रंग।

इन चारों की स्थिति एक वर्ष की, घात करें देशव्रत की, गति तिर्यञ्च की।

प्रत्याख्यानी का चौक—(क्रोध, मान, माया, लोभ)

प्रत्याख्यानावरण का क्रोध—जैसे गाड़ी के पहिये की रेखा,

,, का मान—जैसे काष्ठ का स्तम्भ,

,, की माया—जैसे चलते हुए बैल के मूत्र का वल

,, का लोभ—जैसे गाड़ी खंजन का रग,

इन चारों की स्थिति चार मास की है, घात करें सर्वव्रत (साधुत्व) की, गति मनुष्य की,

संज्वलन का चौक—(क्रोध, मान, माया; लोभ)

संज्वलन का क्रोध—जैसे पानी की रेखा,

,, का मान—जैसे तृण का स्तम्भ,

,, की माया—जैसे ऊन के सूत्र का वल,

,, का लोभ—जैसे हल्दी का रंग.

स्थितिः-क्रोध की स्थिति दो मास की, मान की स्थिति एक मास की, माया की स्थिति १५ दिन की, और लोभ की अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति है। †

नव नोकषाय—

१ हास्य	२ रति	३ अरति
४ भय	५ शोक	६ जुगुप्सा
७ स्त्री वेद	८ पुरुषवेद	९ नपुंसक वेद,

[प्रज्ञा० म० स्था० उत्त०]

मोहनीय कर्म की एक प्रकृति—मिथ्यात्व मोहनीय,

५ आयुकर्म की एक प्रकृति—नरकायु

६ नाम कर्म की चौंतीस प्रकृतिएं—

१ गति नाम कर्म के दो भेद—१नरक गति, २तिर्यंच गति

२ जाति नाम कर्म के चार भेद—१एकेन्द्रिय, २द्वीन्द्रिय ३त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति,

३ सहनन नाम कर्म के पाच भेद—ऋषभ नाराच, नाराच, अर्द्ध नाराच, कीलक, सेवार्त्तक,

४ सस्थान नाम कर्म के पाच भेद—न्यग्रोध परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज, हुण्डक,

५ वर्ण नाम कर्म—अशुभ वर्ण,

६ गध नाम कर्म—अशुभ गध,

---

† अनन्तानुबधी का चौक—का अर्थ है चतुष्क, चार अर्थात् क्रोधादि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अ० मान अ० माया, अ० लोभ आदि।

७ रस नाम कर्म—अशुभ रस,
८ स्पर्श नाम कर्म—अशुभ स्पर्श,
९ आनुपूर्वी नाम कर्म—नरकानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी,
१० विहायोगति नाम कर्म का एक भेद—अशुभ विहायोगति (चाल)
११ घात नाम कर्मका एक भेद—अपघात नाम कर्म,
१२ स्थावर नाम कर्म की दश प्रकृतियाँ—†

१ स्थावर नाम	६ अशुभ नाम
२ सूक्ष्म नाम	७ दुर्भाग्य नाम
३ अपर्याप्त नाम	८ दुस्वर नाम
४ साधारण नाम	९ अनादेय नाम
५ अस्थिर नाम	१० अयशोकीर्ति नाम

७ गोत्र कर्म की एक प्रकृति—नीच गोत्र,

८ अन्तराय कर्म की पाच प्रकृतिया—

१ दानान्तराय	३ भोगान्तराय
२ लाभान्तराय	४ उपभोगान्तराय

५ वीर्यान्तराय ।

परिभाषा

प्राणी जगत मे देखा जाता है कि कतिपय प्राणी आत्यन्तिक सुख का उपभोग करते है तो कई अत्यधिक दुःख का और यहां तक कि एक स्थान, एक स्थिति मे उत्पन्न हुए प्राणी की जीवन

† थावर सुहुम अपज्ज, साहारणमथिरमसुभ दुभगाणि ।
दुस्सरणाइज्जाऽजस, थावर दसगं विवज्जत्थं ।

दशा भिन्न सी होती है, ऐसा क्यो ? कोई तो इस का कारण होगा!

सामाजिक दृष्टि से मनुष्य की जीवन व्यवस्था का अस्त-व्यस्त रूप ही इस का मुख्य कारण है, तो कई अयोग्यता का कारण मानते है किन्तु जैन मनीषियो ने इस स्थिति वैचित्र्य का मुख्य कारण जीव को अकलुषित—कलुषित मनोवृत्ति तथा कर्म ही बताया है। स्व-कर्मानुसार ही जीवन प्रवृत्ति करता है। ये शुभ होगे तो शुभ स्थिति होगी अन्यथा अशुभ होगी जिस से वह नाना प्रकार के सकटो-सुविधाओ को उपलब्ध करता है। मलिन-मनोवृति से अशुभ कर्म का सपादन होता है जिस से प्राणी जगत् को पीडित होना पडता है। बाह्य जगत मे जिसे जुल्म, अन्याय आदि कहा जाता है, दर्शन क्षेत्र मे इसे पाप कहते ह जिस का प्रतिफल अशुभ दशा की उपलब्धि होती है आत्मा स्व मार्ग से च्युत हो कर राक्षसी मार्ग को स्वीकार करता है। अत कहा गया है "पाशयति—मलिनयति जोवमीति पापम्"† अप्रशस्त योगो से अशुभ कर्माणुओ (प्रकृति) का सचय होता है जिस का अनुभव भी अशुभ होता है। यह एक प्रकार मल है, आवरण है जो आत्म-शक्तियो को ढाँप देता है, उसे शक्ति होन बनाकर नाना दुखो का अनुभव कराना है।

प्राणातिपात—मन, वचन एव काया से किसी प्राणी के प्राणो का अतिपात=नाश करना, पीडा पहुचाना, जोव हिंसा, Injury to being

मृषावाद—क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य के वश होकर असत्य बोलना विधान करना झूठ, Falsehood or pertury

अदत्तादान—अदत्त=विना दी हुई, आदान=(वस्तु) ले लेना,

† "पाशयति गुण्डयत्यात्मानं पातयति चात्मन आनन्दरस शाषयति क्षपयतीति वा पापम्।" नव० सु० टी०

दूसरे की आज्ञा बिना किसी वस्तु का लेना, चोरी, Theft.
मैथुन – अब्रह्मचर्य, Unchastity.
परिग्रह—ममत्व भाव से अमर्यादित रूप मे वस्तु का सचय करना, ग्रहण करना अथवा वस्तु पर ममत्व का होना 'मुच्छापरिग्गहोवुत्ता'' Attachment to mammon
क्रोध—आत्मा की उत्तेजक प्रवृति ही क्रोध है, Anger.
मान—आत्मा की अह वृत्ति भाव ही मान, अभिमान, घमड, Pried.
माया—कपटाचरण, छल, धोखा, Deciet.
लोभ—हित-अहित का विचार न करते हुए एक मात्र वस्तु प्राप्ति की लालसा लोभ है। लालच, आवश्यकता से अधिक प्रति समय वस्तु की इच्छा (करना) greed
राग—मन के अनुकूल वस्तु पर आसक्ति, प्रेम, Affection †
द्वेष—अमनोज्ञ वस्तु पर घृणा भाव, Aversion.
कलह क्लेश, परस्पर विरोध,
अभ्याख्यान—मिथ्यादोपारोपण, झूठा कलक लगाना, *
पैशुन्य—दूसरे की चुगली करना, चुगली Back-biting "नो पिठ्ठ मस भक्खेज्जा" पीठ का मास खाना।
परपरिवाद—दूसरो का अवर्णवाद अर्थात् अवगुणो का कथन To talk ill of others.
रति-अरति—पाप कर्मो मे प्रसन्नता रति, धर्म कार्यो मे अप्रसन्नता अरति है। (Like and dislike)

† Attachment to sensual objects
* To impute guilt falseply

मिथ्यादर्शन शल्य—मिथ्यात्व का काटा, विपरीत श्रद्धा †

ज्ञानावरणीय—वह कर्म जो ज्ञान गुण को आच्छादित करता है, ढापता है, ज्ञानावरण है। जैसे, सूर्य को बादल ढाँप देते है। (Comprehension obscuring karma) यह पाच प्रकार का है—

मतिज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन मे वस्तु का होने वाला ज्ञान मति ज्ञान है, इस ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म मतिज्ञानावरणीय है (obscuring Non verbal comprehension)

श्रुतज्ञानावरण—शब्द तथा उस के अर्थ का पूर्वापर ज्ञान होना श्रुत ज्ञान है, अथवा शास्त्र को द्रव्य श्रुत कहते है और उस के पढने या सुनने मे जो ज्ञान होता है वह भाव श्रुत है तथा उस का आवरक कर्म श्रुतज्ञानावरण है। (obscuring verbal comprehension)

अवधिज्ञानावरणीय—मन एव इन्द्रियो की विना सहायता से आत्मा को रूपी मूर्त्त पदार्थों का होने वाला जो मर्यादित ज्ञान है उसे अवधि ज्ञान कहते है, और उस का आवरक अवधि ज्ञानावरणीय है।

मनःपर्याय ज्ञानावरणीय—अढाई द्वीप मे रहे मनुष्यो के भावो –परिणामो को जानना मन पर्याय ज्ञान है, उस का आवरक मन पर्याय ज्ञानावरणीय है। (obscuring telepathy)

केवलज्ञानावरणीय—सम्पूर्ण लोक-अलोक की सर्व रूपी-अरूपी वस्तुओ का ज्ञान केवलज्ञान है, और इसका आवरक कर्म केवलज्ञानावरण है। केवल का अर्थ है सम्पूर्ण अत ज्ञान का पूर्णरूप।

दर्शनावरणीय—वस्तु का सामान्य ज्ञान दर्शन है, तथा उसका

* The thorn of wrong belief

आवरक कर्म दर्शनावरण है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन मे रुकावट डाल देता है।
(Apprehension-obscuring Karma.) यह दो प्रकार का है, दर्शन चतुष्क और निद्रा पञ्चक।

चक्षुः दर्शन—नेत्र द्वारा होने वाला पदार्थ का जो सामान्य ज्ञान है वह चक्षु दर्शन है, तथा उस का आवरक कर्म चक्षु' दर्शनावरण है। (One obscures visuel apprehension)

अचक्षुःदर्शन—नेत्र के अतिरिक्त अन्य श्रोत्र आदि इन्द्रियो से पदार्थ की सामान्य ज्ञानानुभूति दर्शन है, उस के आवरक कर्म को अचक्षु दर्शनावरण कहते है। (That which obscures non-visual apprehension)

अवधि दर्शनावरण—मन एव इन्द्रियो की बिना सहायता से आत्मा का मर्यादित सामान्य ज्ञान अवधिदर्शन है, तथा' उस के आवरक कर्म को अचक्षु दर्शन कहते है। (That which obscures transcendental apprehension of meterial objects)

केवल दर्शनावरण—समस्त लोकालोक के सकल (मूर्त्त-अमूर्त्त) पदार्थो का सामान्य ज्ञान केवलदर्शन है, और उसका आवरक कर्म दर्शनावरण है। (One obscures perfect apprehension)

निद्रा—सोया हुआ व्यक्ति तनिक सी पदचाप या खट-खटाहट से जाग जाए, उसे निद्रा कहते हैं, साधारण नीद। (One causes a light and pleasant sleep.)

निद्रा-निद्रा—वह नीद जो आवाज देने से अथवा शरीर के स्पर्श से खुल जाए, तथा जिस कर्म से ऐसी नीद आवे वह निद्रा-निद्रा कर्म है। (One produces a deep sleep.)

प्रचला—बैठे हुए या खडे हुए नीद लेना प्रचला है, जिस कर्म से ऐसी नीद आवे वह प्रचला कर्म है। (One species generates a sound slumber)

प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते हुए जो नीद आती है उसे प्रचला प्रचला कहते है, जिस कर्म से नीद आती है. उसे प्रचला २ कर्म कहते है। (The causes an intensive sleep which over comes a person while walking.)

सत्यानर्द्धि (गृद्धिका)—जिस निद्रा मे प्राणी बडे २ बलसाध्य कार्य कर डालता है, तथा जागृत दशा की अपेक्षा अनेक गुण अधिक बल हो जाता है वह निद्रा स्त्यानर्द्धि निद्रा कहलाती है। (Somnambulism.)

वेदनीय कर्म—जिस कर्म से जीव साता—सुख, असाता—दुख का अनुभव करता है—वेदता है, वेदनीय कर्म है। यह दो प्रकार का है—साता वेदनीय असाता वेदनीय। पहला सुख का प्रदाता है, दूसरा दुख का देने वाला है। (Feeling producing, it is of two varieties, the first one produces a feeling of pleasure the second one causes a feeling of pain)

मोहनीय कर्म—जिस से आत्मा मोहित हो—सत्-असत् के विवेक से शून्य हो वह मोहनीय कर्म है, जैसे मदिरा पान से मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, विवेक विकल हो जाता है। यह कर्म दो प्रकार का है—कषाय मोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय। कषाय मोहनीय सोलह प्रकार का है और नोकषाय मोहनीय नव प्रकार का है।

अनन्तानुबंधी—वे तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ, जो जीवन काल तक दूर न हो तथा जिससे जीव अनन्त भव करता रहे।

अनन्तानुवन्धी कहलाते है। अर्थात् सम्यक्त्व गुण का नाशक कषाय अनतानुवधी है।

अप्रत्याख्यानावरण—वह कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) जो श्रावकत्व—देश विरति धर्म का विनाशक अथवा वाधक हो, अथवा उन क्रोधादि परिणामो को अप्रत्याख्यानावरण कहते हे जिन के होते हुए जीव को किसी प्रकार के नियम आदि धारण करने की अभिलाषा ही नही होती।

प्रत्याख्यानावरण—वह कषाय जो साधुत्व गुण—सर्वविरति चरित्र का नाश करे अथवा उस का वाधक हो।

संज्वलन—जिस कषाय से आत्मा को यथाख्यात चरित्र की प्राप्ति नही होती, अर्थात् सज्वलन का अर्थ है सूक्ष्म कषाय अंश और उस समय की आत्म-प्रवृत्ति सज्वलन रूप होती है, दशवे गुण-स्थानवर्ती जीव का कषाय (लोभ अश) सज्वलन कषाय कहा जाता है, यह प्रमत्त दशा मे आकर योगो मे चचलता उत्पन्न करता रहता है, जिस से उक्त चारित्र की प्राप्ति नही होती और आत्मा सर्वज्ञ अवस्था की प्राप्ति नही कर सकता।

नो कषाय—†का अर्थ है मन्द कषाय अथवा कषाय को उत्तेजित (प्रेरित) करने वाले (परिणाम) भाव (*Quasi*-passions) ये नव प्रकार के है—

हास्य—जिस के उदय से हसी आवे वह हास्य नो कषाय कर्म है। (Laughter)

रति—जिस के कारण विषयो मे उत्सुकता वढे। (Liking)

---

† The *Quasi*-passion, are so called because they co-exist with the passions and also inspire them—Jaina Psey.

अरति—जिस के कारण धर्म मे अरुचि उत्पन्न हो (Disliking)

भय—जिस से चित्त मे भीति-भय उत्पन्न हो (Fear)

शोक—जिस के कारण इष्ट वस्तु के वियोग हो जाने पर चित्त मे शोक उत्पन्न हो वह शोक नो कषाय कर्म है। (Sorrow)

जुगुप्सा—जिस के कारण अमनोज्ञ पदार्थों के प्रति घृणा उत्पन्न हो, (Hate)

स्त्रीवेद—स्त्री के ससर्ग सुख की अभिलाषा स्त्रीवेद है,

पुरुषवेद—पुरुष के ससर्ग सुख की अभिलाषा पुरुषवेद है,

नपुंसकवेद—स्त्री-पुरुष दोनो के ससर्ग सुख की अभिलाषा,

विशेष—वेद दो प्रकार है—द्रव्य वेद और भाव वेद।

द्रव्य वेद का अर्थ है वे शारीरिक चिन्ह विशेष जिस से पुरुष, स्त्री नपुसक आदि की पहिचान हो। जैसे पुरुष के दाढी, मूछे आदि तथा स्त्री के स्तन, केश, आदि और जिस मे पुरुष-स्त्री दोनो के लक्षण पाये जाए वह नपुसक जीव होता है। (Sex-organs or male-sex female-sex and nuter-sex, Sexual-desire)

स्त्री के ससर्ग सुख की अभिलाषा, भाव पुरुषवेद है, पुरुष के ससर्ग सुख की अभिलाषा भाव स्त्रीवेद है, तथा स्त्री-पुरुष दोनो के ससर्ग सुख की अभिलाषा भाव नपुसकवेद है।

मिथ्यात्व मोहनीय—मोहनीय कर्म का वह भेद जिस के उदय से जीव सम्यग् मार्ग ग्रहण न करता हुआ मिथ्या—विपरीत मार्ग मे ही गमन करता रहे तथा श्रद्धा शील रहे मिथ्यात्व मोहनीय है।

स्थावर नाम कर्म—जिस कर्म से स्थावर शरीर की प्राप्ति हो, पृथ्वी आदि।

सूक्ष्म नाम कर्म—जिस कर्म से जीव को सूक्ष्म शरीर (आखो से

न दिखाई देने वाला) की प्राप्ति हो। जैसे निगोदादि के जीव।

अपर्याप्त नाम कर्म—वह कर्म जिस के प्रभाव से जीव अपनी पर्याप्तिया पूर्ण न कर सके।

साधारण नाम कर्म—जिस नाम कर्म से अनेक जीवो को एक ही शरीर मिले। जैसे आलू, मूली आदि वनस्पति तथा निगोदादि।

अस्थिर नाम कर्म—जिस कर्म से शरीर के अवयव अस्थिर हो।

अशुभ नाम कर्म—जिस कर्म के प्रभाव से शरीर के अवयव शुभ न हो।

दुर्भग नाम कर्म—जिस कर्म से जीव किसी का प्रीति-पात्र न हो।

दुस्वर नाम कर्म—जिस से जीव का स्वर दूसरे को सुनने मे बुरा लगे।

अनादेय नाम कर्म—जिस कर्म से जीव का वचन अन्यो मे माननीय न हो।

अयशोकीर्ति नाम कर्म—जिस कर्म से जीव का ससार मे अपयश अपकीर्ति हो।

अन्तराय कर्म—अन्तराय का अर्थ है विघ्न, बाधा अर्थात् वह कर्म जिस से जीव के कार्य मे विघ्न पडे। यह पाच प्रकार का है—

दानान्तराय कर्म—दान मे बाधक कर्म दानान्तराय है।

लाभान्तराय कर्म—लाभ मे बाधक कर्म लाभान्तराय है।

भोगान्तराय कर्म—भोग्य योग्य पदार्थो के भोग मे बाधक भोगान्तराय कर्म है।

उपभोगान्तराय कर्म—उपभोग योग्य पदार्थों के उपभोग मे जो बाधक है।

[भोग का अर्थ है वह पदार्थ जो एक ही बार भोगने मे (काम) आये, जैसे भोजन, अन्न-जल आदि। तथा उपभोग से तात्पर्य उन वस्तुओ से है जो बार २ काम आये। जैसे—आभरण, वस्त्र मकान आदि।†]

† मस्थान, मघणयणो का अर्थ परिशिष्ट में देखें।

आश्रव तत्त्व

पांचवां

प्र०—आश्रव किसे कहते है ?

उ०—आत्मा मे कर्मो का आना और उसके आने का कारण ही आश्रव कहलाता है। (An influx of Karmic particles due to vibrations)

"जीव रूप तालाव मे आश्रव रूप नालो (जलमार्गों) से शुभ-अशुभ कर्म रूप जल का निरन्तर आते रहना आश्रव का स्वरूप है। इस से कर्मवन्ध होता है, आत्मा मलिन होता हुआ गुरुत्तर हो भव-भ्रमण करने लगता है।"

[आश्रव तत्त्व जघन्य, मध्यम एव उत्कृष्ट भेदो-प्रभेदो मे वटा है। इसके जघन्य पाच, मध्यम वीस उत्कृष्ट वयालीस भेद है।]†

आश्रव के पाच भेद—

१. मिथ्यात्व. ३. प्रमाद
२. अव्रत ४. कषाय
५. अशुभ योग

---

†इंदिय ५ कसाय ४ अव्वय ५ किरिया २५ पण चउर पच पणवीसा।
जोगा तिन्नेव भवे आसव भेया वेयाला ॥१॥—स्था० टीका०

आश्रव के वीस भेद—

६. प्राणातिपात आश्रव   ८. अदत्तादान आश्रव

७. मृपावाद आश्रव   ९. मैथुन आश्रव

१०. परिग्रह आश्रव

[इन पाचो का आचरण करने से पाप का आगमन होता है अत आश्रव द्वार है।]

११. श्रोत्रेन्द्रिय आश्रव   १३. घ्राणेन्द्रिय आश्रव

१२. चक्षुःइन्द्रिय आश्रव   १४. रसनेन्द्रिय आश्रव

१५. स्पर्शनेन्द्रिय आश्रव

[इन को राग-द्वेष मे प्रवर्त्ताने से आश्रव रूप है क्योंकि कर्माणुओ का आगमन होता है।]

१६. मनःयोगाश्रव   १७. वचन योगाश्रव

१८. काय योगाश्रव

[इन योगो की प्रवृत्ति जब अशुभ होती है तो ये आश्रव रूप होते है।]

१९. भण्डोपकरण—वस्त्रादि का अनुपयोग से आदान-निक्षेप (उठाना-रखना) आश्रव है।

२०. शुचि आदि कुशाग्र मात्र पदार्थ का अनुपयोग से आदान-निक्षेप आश्रव है।

[स्था० सम०]

आश्रव के ४२ भेद—

पच्चीस क्रिया

१ **कायिकी** (काइया)—शरीर को असावधानी से वर्तने से,

२. **अधिकरणिकी** (अहिगरणिया)—शस्त्रादि के सग्रह एव वनाने से

३. **प्राद्वेषिकी** (पाउसिया)—जीव अजीव पदार्थो पर द्वेष करने से

४. **पारितापनिकी** (परितावणिया)—अपने को अथवा दूसरे को पीडा पहुचाने से।

५. **प्राणातिपातिकी** (पाणाइवाद)—आत्म-हत्या अथवा दूसरे के प्राणो को नष्ट करने से।

६. **आरंभिकी** (आरभिया)—खेती करने, घर आदि वनाने मे होने वाली जीव हिंसा से।

७. **पारिग्रहिकी** (परिग्गहिया)—धन-धान्यादि के सग्रह तथा उस पर ममत्व वुद्धि रखने से।

८. **माया प्रत्ययिकी** (मायावत्तीया)—कपट द्वारा दूसरे को छलने से।

९. **मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी** (मिच्छा दसण वत्तीया)—वीतराग वचनो से विपरीत श्रद्धान करने से अर्थात् मिथ्यात्व सेवन से।

१०. **अप्रत्याख्यानिकी** (अपच्चक्खाणी)—नियम, मर्यादा आदि न करने से।

११. **दृष्टिका** (दिट्ठिया)—राग-द्वेष युक्त चित्त से वस्तु को देखने से।

१२. **पृष्टिका** (पुट्ठिया)—रागभाव से स्त्री-पशु तथा वस्त्रादि का स्पर्श करने से।

१३. प्रातीत्यकी (पाडुच्चिया)—जीव-अजीव वस्तु पर हर्ष, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि करने से।

१४. सामन्तोपनिपातिकी (सामन्तोवणिवाइया)—अपने वैभव की प्रशंसा सुन कर प्रसन्न होने से।

१५. नैशस्त्रिकी (नेसत्थिया)—कंकड़, पत्थर, जल आदि को अयत्ना पूर्वक फेंकने से।

१६. स्वहस्तिकी (साहत्थिया)—अपने हाथ से सजीव-निर्जीव वस्तु का संहार करने से।

१७. आज्ञापनिकी (आणवणिय)—पाप-कार्य की आज्ञा देने से।

१८. वैदारणिकी (विदारणिया)—जीव-अजीव पदार्थ को चीरने से।

१९. अनाभोगिकी (अणाभोगवत्तिया)—लापरवाही से वस्तु को रखने से।

२०. अनवकांक्षप्रत्ययिकी (अणवकंखवत्तिया)—आत्म-धर्म से विरुद्ध आचरण करने से।

२१. अन्याप्रायोगिकी (अणुपयोगी)—शून्य उपयोग से काम करने से।

२२. सामुदानिकी (समुदाणकिरिया)—अनेको मनुष्यो द्वारा सामुहिक रूप मे कर्मबन्ध करने से।

२३. प्रेमिकी (पेज्जवत्तिया)—माया तथा लोभ के आचरण से।

२४ द्वेषिकी (दोसवत्तिया)—क्रोध तथा मान के आचरण से।

२५. ऐर्यापथिकी (इरियावहिया)—गमन-आगमन से काया द्वारा लगने वाली क्रिया।

[यह क्रिया ११, १२, १३, मे गुणस्थानवर्ती जीवो को लगती

है, तेरहवेगुणस्थानी—अयोगी केवली को इस क्रिया का पहले समय स्पर्श होता है, दूसरे समय मे वेदी जाती है और तीसरे समय मे निर्जरा की जाती है।]

[स्था० भगवती]

सतरह प्रकार का असयम

१ श्रोत्रेन्द्रियाश्रव   ३ घ्राणेन्द्रियाश्रव
२ चक्षुरिन्द्रियाश्रव   ४ रसनेन्द्रियाश्रव
५ स्पर्शनेन्द्रियाश्रव

१ मिथ्यात्वाश्रव   ३ प्रमादाश्रव
२ अव्रताश्रव   ४ कषायाश्रव
५ अशुभ योगाश्रव

१ क्रोध में प्रवृत्ति   ३ माया में प्रवृत्ति
२ मान में प्रवृत्ति   ४ लोभ में प्रवृत्ति
[क्रोध आदि मे प्रवृत्ति करना आश्रव है।]

१ अशुभ प्रवृत्ति में मन २ अशुभ प्रवृत्ति में वचन
३ अशुभ प्रवृत्ति में काया

[भग० १७ श० १ सूत्र]

कि० इ० आ० क० यो०

[२५ + ५ + ५ + ४ + ३ = ४२ बयालीस भेद आश्रव के है।†]

†इंदिय कसाय अव्वय जोगा, पंच चउ पंच तिन्नि कमा।
किरियाओ पणवीसाओ इमाओ ताओ अणुक्कमसो॥—नवतत्त्व प्रकरण

परिभाषा

जैन दर्शन ने आश्रव को आत्मा का मुख्य शत्रु माना है क्योंकि इसी के द्वारा ही आत्मा गुरुत्व दशा को प्राप्त होता है अत आश्रव से अभिप्राय प्रवेश द्वार से है अर्थात् आत्मा के लोक मे आश्रव ही कर्मो का प्रवेश द्वार है। अथवा आश्रव का अर्थ है शुभाशुभ योगादि की प्रवृति से कर्माणुओ का जल-मार्गो द्वारा तडाग मे जल प्रवाह की भाति निरन्तर आते रहना है। साथ ही मन वचन और काया की वह प्रवृत्तिया जिन से कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होते है, आश्रव हैं।

इस आश्रव के दो रूप है- एक द्रव्याश्रव तो दूसरा भावाश्रव

द्रव्य आश्रव—योगादि के व्यापार से कर्माणुओ का आत्म-प्रदेशो मे आते रहना द्रव्याश्रव है।

भाव आश्रव—अन्तरात्मा के शुभ-अशुभ परिणाम अथवा अन्त करण की प्रवृत्ति ही भाव आश्रव है। क्योकि कर्माणुओ को लाने मे यह निमित्त है। *

[आश्रव के पाच भेदो के ही ये ४२ भेद है तथा इन के अर्थ भी स्पष्ट हैं फिर भी उन पाँचो के अर्थ दिये जाते है—]

मिथ्यात्व-विपरीत श्रद्धा, अतत्त्व मे तत्त्व बुद्धि का होना मिथ्यात्व है। अथवा जो पदार्थ जिस रूप मे है उसे उसरूप मे स्वीकार न कर भिन्न रूप मे मानना (Blind and wrong faith

* "*Bhava asrava*, signifing the condition of receptivity or negativity which is favourable for the influx of matter into the soul, and *dravya asrva*, the actul inflowing meterial itself *The prectical path* by Champt Rai

or belief) मिथ्यात्व है।

सुदेव, गुरू, धर्म तथा नव सद्भाव पदार्थों (जीव आदि) पर श्रद्धा न कर कुदेव कुगुरू आदि पर श्रद्धा-विश्वास करना मिथ्यात्व कहलाता है।

अव्रत—अविरति, हिंसा, असत्य आदि से विरत न होना—अलग न होना ही अव्रत है अर्थात् अहिंसा आदि व्रतो का धारण न करना अव्रत है (Moral failing)

प्रमाद—(Negligent conduct or lack of control) कुशल अनुष्ठान मे अनादर। सयम मे अनुद्यमता प्रमाद कहलाती है। यह पाच प्रकार का है, मद, विषय कपाय, निद्रा और विकथा।

कपाय—क्रोध, मान, माया, लोभ। (देखे ५४ पृष्ठ पर)

योग—मन-वचन और काया का व्यापार योग कहलाता है।†

क्रिया—करण, व्यापार, कर्म बन्ध का कारण।

आत्मा जब तक योगो को शुभ अथवा निरोध नही कर लेता तब तक उस मे कर्माणु निरन्तर आते ही रहेगे और वह गुरुदशा को प्राप्त होता रहेगा। क्यो कि आत्मा अगुरु-लघु द्रव्य है, ज्यो २ इस पर कर्ममल आता है त्यो २ उस की गुरु-गुरुत्तर दशा हो जाती है। तथा जब २ कर्ममल दूर होता है वह तुम्बे की तरह हल्का हो जाता है। जैसे मिट्टी आदि के लेप से युक्त तू वा जल मे छोडने पर डूब जाता है और जब वह लेप दूर हो जाता है तो पानी पर तैरने लगता है, इसी प्रकार आत्मा ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला माना गया

†कषाय, योग आदि के स्वरूप के लिये देखें "तत्त्व-चिन्तामणि भा० २'

है। जो कर्म-रज के लिप्त होने पर नरक आदि गतियो मे भ्रमण करता रहता है, जब निर्लिप्त हो जाता है तो स्वर्ग अथवा मोक्षावस्था को प्राप्त कर लेता है। अत आश्रव ही आत्मा की गुरुता का मुख्य कारण है, और यह अशुभ, अप्रशस्त योग तथा शुभ योग से सम्पादित होता है और इस का मुख्य कारण है अविवेक, प्रमत्तअवस्था।

संवर तत्त्व

छट्ठा

प्रश्न—सवर किसे कहते हैं ?

उत्तर—आश्रव का निरोध ही सवर है अर्थात् जिन क्रियाओ से आश्रव मार्ग द्वारा आते हुए (पाप) कर्म बन्द हो जाए वह क्रिया सवर कहलाती है। अथवा The stopping of the inflow of the Karmic Matter into the soul.

जीव रूप तालाब मे आश्रव रूप नालो (जल मार्गो) द्वारा आते हुए शुभाशुभ कर्म रूप जल का नियम रूप पाल अथवा पट्टो से रोकना ही सवर तत्त्व का स्वरूप है।

[यह तत्त्व जघन्य और उत्कृष्ट दो भागों मे बटा है, जघन्य बीस भेद है, उत्कृष्ट सत्तावन भेद है।†]

आश्रव के बीस भेद—

१ सम्यक्त्व संवर   २ प्रत्याख्यान संवर

३ अप्रमाद संवर   ४ अकषाय संवर

५ (शुभ) योग संवर

६ प्राणातिपात विरमण संवर—प्राणी हिसा न करना सवर है,

७ मृषावाद विरमण संवर—असत्य न बोलना सवर है,

---

†समिई५ गुत्ति३ धम्मो१० अणुपेह१२ परीसहा२२ चरित्त च ५। सत्तावन्न भेया पण तिग भेयाइ सवरणे ॥१॥ स्था० टी०

८ अदत्तादान विरमण संवर—चोरी न करना संवर है,
९ मैथुन विरमण संवर—अब्रह्मचर्य सेवन न करना सवर है,
१० परिग्रह विरमण संवर—धन आदि पर ममत्व न रखना सवर है,
११ श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह संवर १३ घ्राणेन्द्रि निग्रह संवर
१२ चक्षुरिन्द्रिय निग्रह संवर १४ रसनेन्द्रिय निग्रह संवर
१५ स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह संवर

[इन पाच इन्द्रियों को वश मे करने से सवर होता है।]

१६ मनोनिग्रह संवर १७ वचन निग्रह संवर
१८ काय निग्रह संवर

[इन तीन योगों को वश मे करना सवर है।]

१९ भण्ड-उपकरण को यत्ना पूर्वक रखना, लेना संवर है,
२० शुचि कुशाग्रमात्र पदार्थ यतना पूर्वक लेना रखना संवर है

सवर के सत्तावन भेद—

[बावीस परिषह पाच समिति, तीन गुप्ति, दस यतिधर्म, बारह भावना, पाच चारित्र, ये सवर के उत्कृष्ट भेद है।†]

बावीस परिषह

१ क्षुधा परीषह २ पिपासा परीषह ३ शीत परीषह
४ उष्ण परीषह ५ दंश-मशक परीषह ६ अचेल परीषह

†समइ गुत्ति परीसह जइ धम्मो भावणा चरित्ताणि,
पण ति दुवीस दस बार पञ्च भेएहिं सगवन्ना।—नव० प्र०

७ अरति परीषह ८ स्त्री परीषह ६ चर्या परीषह
१० निषद्या परीषह ११ शैय्या परीषह १२ आक्रोश परीषह
१३ वध परीषह १४ याचना परीषह १५ अलाभ परीषह
१६ रोग परीषह १७ तृणस्पर्श परीषह १८ जल्ल परीषह
१६ सत्कार-पुरस्कारप० २० प्रज्ञा परीषह २१ अज्ञान प०
२२ दर्शन परीषह ।

[उत्त० २२ाअ०]

पाच समिति

१ इर्या समिति ३ एषणा समिति
२ भाषा समिति ४ आदान-निक्षेपण समिति
५ उत्सर्ग समिति

उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-जल्ल सिंघान परिष्ठापनिका समिनि

[पाँच समिति के २० उत्तर भेद है, इर्या समिति के चार, भाषा समिति के चार आदि ।]

इर्या समिति के चार भेद—

१ आलम्बन २ काल ३ मार्ग ४ यत्ना ।

आलंबन के तीन भेद—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ।

काल का एक भेद—इर्या का काल, दिन को देख कर रात्रि को प्रमार्जन के चलना ।

मार्ग का एक भेद—संयम मार्ग, अर्थात् संयम में प्रवृत्ति करना ।

यत्ना के चार भेद—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

द्रव्य से—शरीर प्रमाण आगे देखते हुए चलना।

क्षेत्र से—इर्या शोधन करते हुए दस दोष छोड़ कर चलना—१ शब्द २ रूप ३ गन्ध ४ रस ५ स्पर्श ६ वाचना ७ पृच्छना ८ परियट्टना ९ अनुपेक्षा और १० धर्मकथा

काल से—दिन को देख कर, रात्रि को प्रमार्जन कर चलना।

भाव से –उपयोग पूर्वक, (क्रियानुष्ठान करना)

गुण से—निर्जरा के लिए।

[उत्त० २८]

भाषा समिति के चार भेद—

१ द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव।

द्रव्य से—आठ दोष छोड़ कर (भाषा) बोलना चाहिए–जैसे, १ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ ५ हास्य ६ भय ७ मोखर्य वचन और विकथा।

क्षेत्र से—जहां रहे वहां हित-मित एवं प्रिय बोलना।

काल से—प्रहर रात्रि के बीत जाने के बाद उच्च स्वर से न बोलना।

भाव से–उपयोग पूर्वक, विवेक सहित।

गुण—निर्जरा के लिए,

[उत्त० २८]

एषणा समिति के चार भेद—

१ द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव।

द्रव्य से—साधक अपनी वृत्त्यानुसार ही आहारादि ग्रहण करे।

[गृहस्थ को न्याय पूर्वक प्रवृति करते हुए अपने अधिकार को ग्रहण करना चाहिये।]

क्षेत्र से—साधक अर्द्ध योजन† उपरान्त आहार न ले जावे।

(गृहस्थ कोई ऐसा कार्य न करे जिस से राष्ट्र, समाज, एव धर्म को हानि पहुचे।)

काल से—साधक पहले प्रहर का आहार चौथे प्रहर में न भोगे।

(गृहस्थ शीघ्र ही विकृत-बिगड जाने वाले, अन्य को हानिप्रद. जीवोत्पन्न होने वाले पदार्थों का अधिक समय तक सग्रह न करे।)

भाव से—साधक मांडल के पांच दोष टाल कर आहार करे।

[गृहस्थ को रस-लोलुप नही होना चाहिए।]

गुण से—मर्यादा की रक्षा के लिए।

[उत्त० २४]

आदान—निक्षेपण समिति के चार भेद—

१. द्रव्य से—भण्डोपकरण मर्यादा से अधिक न रखना.
२. क्षेत्र से—उपकरणों को खुल्ले-बिखरे न रखना,
३. काल से—समय पर प्रतिलेखना-प्रमार्जना करना,
४. भाव से—उपयोग पूर्वक, यत्ना युक्त,
५. गुण से—निर्जरा के लिए,

---

† ४½ मील का अर्द्ध योजन होता है, चार कोश का एक योजन होता है।

उत्सर्ग समिति के चार भेद—

१. द्रव्य से—दश दोष टाल कर वस्तु का त्याग करे (परठे)—
जैसे: (१) ऐसा स्थान—

१. जहां कोई आता हो, देखता हो वहां न परठे,
२. जहां कोई आता है, देखता नहीं वहाँ न परठे,
३. जहां कोई आता नहीं, देखता है वहाँ न परठे,
४. जहां कोई आता नहीं, देखता भी नहीं, वहां परठे

२. जहां आत्म-विराधना या परात्म-विराधना हो वहां न परठे।

३. ऊंची-नीची भूमि हो वहां न परठे अर्थात् समतल भूमि पर परठे।

४. पोली भूमि, घास, धान्य, पत्ते, तथा किसी वस्तु के ढेर पर न परठे।

५. अचित्त (प्राणी रहित) पृथ्वी पर परठे।

६. विस्तृत अचित्त भूमि पर परठे, जिससे पदार्थ सचित्त पृथ्वी पर न जाये।

७. चार अंगुल परिमाण गहरी भूमि पर परठे।

८. ग्राम आदि (दृष्टिगोचर स्थान) के पास न परठे।

९. चूहे आदि के बिलों पर न परठे।

१०. त्रस प्राणी, बीज हरितकायादि पर न परठे।

[परिष्ठव्य पदार्थ के परठने के बाद "वोसरेहि" कहना चाहिए।]

क्षेत्र से–जहां विचरण करे, रहे, (ग्राम, नगर, वन, पर्वत आदि में)

काल से–दिन को देख कर, रात्रि को प्रमार्जन कर परठे।

भाव से–उपयोग पूर्वक, परिणाम युक्त।

गुण से–निर्जरा के लिए।

[उत्त० २४]

गुप्तियो के उत्तर भेद

[गुप्तियो के बारह भेद है, जिस मे प्रत्येक के चार है। नव तत्त्व प्रकरण के अनुसार सात भेद है।]

तीन गुप्ति–मनःगुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति।

मन गुप्ति के चार भेद—

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

द्रव्य से–मन को संरंभ, समारम्भ और आरम्भ में न प्रवर्त्तावे।

क्षेत्र से–जहां भी रहे, विचरे।

काल से–आयुपर्यन्त, आजीवन।

भाव से–उपयोग पूर्वक।

गुण से–निर्जरा के लिए।

वचन गुप्ति के चार भेद–

१. द्रव्य से–सरंभ आदि में वचन न प्रवर्त्तावे।

२. क्षेत्र से–पूर्ववत्, शेष सब भेद जानने चाहिएं।

[मन आदि को उपर्युक्त क्रिया मे न प्रवर्त्तावे, प्रवर्त्तजावे तो फल न लगने देवे यदि लग जावे तो निष्फल करने की चेष्टा करे।]

काय गुप्ति के चार भेद—

पूर्ववत्.................

[उत्त० २४]

अवस्था भेद से मन गुप्ति आदि चार प्रकार की है—

सत्य मन गुप्ति, असत्य मन गुप्ति, मिश्रमन. गुप्ति, व्यवहार मन· गुप्ति।

सत्यवचन गुप्ति, असत्य वचन गुप्ति, मिश्र वचन गुप्ति, व्यवहार वचन गुप्ति।

यत्ना से बैठना, खडे रहना, सोना, ऊचे या विषम स्थान का उल्लघन करना, सामान्य रूप से चलना, इन्द्रियो का स्पर्शादि विषयो मे न लगाना यदि लग जाय तो रोकना काय गुप्ति है। [उत्त० २४]

प्रकारान्तर से—

मन.गुप्ति तीन प्रकार की है—असत् कल्पना वियोगिनी, समताभाविनी और आत्मा-रमता।

वचन गुप्ति दो प्रकार की है. मौनावलम्बिनी, वाङ् नियमिनी।

कायगुप्ति के दो प्रकार हैं, एक चेष्टा निवृत्ति, दूसरी यथासूत्र-चेष्टा निवृत्ति।

—नव तत्त्व प्रकरण

दश यति धर्म

१ क्षमा २ मुक्ति ३ आर्जव ४ मार्दव ५ लाघवां†

† खन्ति मुत्ति अज्जवे मद्दवे लाघवे,
सच्चे सजमे तवे चेइय बंभचेर वासे।

६ सत्य ७ संयम ८ तप ९ त्याग १० ब्रह्मचर्य

वारह भावना

१. अनित्य भावना, भरत चक्रवर्ति ने भावी
२. अशरण भावना, अनाथी मुनि ने भावी
३. संसार भावना, शालीभद्र जी ने भावी
४. एकत्व भावना, नमिराजर्षि ने भावी
५. अन्यत्व भावना, मृगापुत्र ने भावी
६. अशुचि भावना, सनत् कुमार ने भावी
७. आश्रव भावना, समुद्रपाल ने भावी
८. संवर भावना, हरिकेशी मुनि ने भावी
९. निर्जरा भावना, अर्जुन माली ने भावी
१०. धर्म दुर्लभ भावना, धर्म रुचि अणगार ने भावी
११. लोक स्वरूप भावना, भ० आदिनाथ के सौ पुत्रों ने भावी
१२. बोधि दुर्लभ भावना, शिवराजर्षि ने भावी

चारित्र पांच

१ सामायिक चारित्र
२ छेदोपस्थापनीक चारित्र
३ परिहार विशुद्धिक चारित्र
४ सूक्ष्म सम्पराय चारित्र
५ यथाख्यात चारित्र ।

परिभाषा

इस से पूर्व यह बताया जा चुका है कि आत्मा आश्रव द्वारा

गुरुत्व को प्राप्त हो कर भव-भ्रमण करता रहता है, और यही उसका पतन और उसका कारण है। जिस प्रकार छिद्रो वाली नौका जल-भार से अथाह जल मे डूब जाती है। हा, तो उस डूबती हुई नाव को बचाने के लिए उसके छिद्रो को, जिस मे से जलस्राव होता है बन्द कर दिया जाता है उसी प्रकार आत्म-प्रदेशो मे अव्रत, कषाय आदि द्वारो द्वारा आते हुए कर्मों को रोकने के लिए उनका (द्वारो) का निरोध करना ही सवर का लक्षण है -" सवृणोत्याच्छादयत्याश्रव द्वाराणि, अथवा सव्रियन्ते सम्यक्तया निवार्यन्ते समागच्छन्ति कर्माणि यस्मात् स. सवर ।"

विना इस क्रिया के आत्मा अपने रूप मे आ नही सकता अत सवरावस्था नवीन कर्मों से आत्मा को मलिन न होने देने की एक क्रिया है। सवर दो प्रकार का है द्रव्य और भाव। आत्म-प्रदेशो पर आते हुए कर्म पुद्गलो का रुक जाना द्रव्य सवर है तथा उन कर्म पुद्गलो के आगमन मे कारण भूत असकलिष्ट आत्म-अध्यवसाओ, परिणामो का त्याग भाव सवर है—"य कर्मपुद्लादानच्छेद स द्रव्य सवर, भवहेतुक्रियात्याग स पुनर्भाव सवर."†

विशेष ज्ञातव्य—

आश्रव मे शुभ-अशुभ सभी प्रकार के कर्म-पुद्गलो का आगमन है और सवर मे उनका निरोध है—' सर्वेषामाश्रवाणा तु निरोधःसवर

†The process of checking the inflow of fresh matter through these door ways is called *Samvara*, which is of two kinds, namely, (i) *bhava samvara* and (ii) *dravya samvara*. The former of these two kinds of *samvara* signifies the control of passions, emotions likes and dislikes and the latter, i e. *dravya samvara*, the cessation of the influx of the particules of matter —P Path by Champt Rai Jain.

स्मृत" किन्तु सर्वथा कर्माणुश्रो का निरोध शीघ्रत सभव नही है अत सवर के दो रूप है एक सर्वथा योगों का निरोध† जो कार्मण वर्गणा से कर्माणुश्रो को जीव-प्रदेशो पर लाते है, दूसरा अशुभ योगो का निरोध है। सवर तत्त्व मे अशुभ आश्रव के निरोध से ही तात्पर्य है (क्योकि योगोका सर्वथा निरोध चतुर्दशगुणस्थान मे ही सभव है।) उदाहरणत· किसी जल प्रवाह को रोकने के लिए उस पर पुल या पाल वाधने की आवश्यकता पडती है तो पहले उस प्रवाहमान जल के बहने के लिए थोडा सा मार्ग छोड दिया जाता है और उसके समीप मे वाध क्रिया शुरू की जाती है जब मुख्य भाग भली भाति बाध लिया जाता है तो फिर अवशिष्ट भाग भी बाँध लिया जाता है, उसी प्रकार आत्म-शुद्धि के लिए सर्वथा कर्म प्रवाह को बन्द न कर अशुभ कर्म प्रवाह को वन्द करते हुए फिर शुभ का भी निवारण किया जाता है। इस प्रकार आत्मा शनै २ एक दिन सर्वथा नवीन कर्म-प्रवाह से निर्मुक्त हो जाता है।

सवर के कारण निम्न है—

परीषह—सयम मार्ग मे आती हुई विकट वाधाओ का समभाव पूर्वक सहन करना ही परीषह कहलाता है। निवृत्ति मे मार्ग दृढ रहने, कर्मों को निर्जरा करने तथा धर्म की रक्षा मे आई हुई सब तरह की विषम परिस्थितियो का सह लेना परीषह है। (Conquest of affliction)

क्षुधा परीषह—सयम के नियमानुसार भिक्षा के न मिलने पर भूख का समभाव पूर्वक सहना क्षुधा परीषह है।

पिपासा परीषह—ऐषणीय, अचित्त जल के न मिलने पर प्यास को

---

†The stoppage of acttivities is called "*samvara*".

Jain Pscy by M L Mehta

समता युक्त सहना पिपासा परीषह है।

शीत परीषह—अधिक ठड पडने पर भी अग्नि आदि तथा अकल्पनीय वस्त्रो की इच्छा न करते हुए उन्ही मर्यादित वस्त्रो से ही शीत को शात चित्त से सहना शीत परीषह है।

उष्ण परीषह—भयकर गर्मी से सतप्त होने पर भी स्नान, छत्र-धारण तथा पखे से वायु आदि लेने की क्रिया न कर के साम्यभाव से गर्मी को सहन करते रहना।

दंश परीषह—साधनानुष्ठान मे दश-मच्छरो आदि के काटने पर भी उन पर द्वेष न कर के तथा पीडा के मारे स्थानान्तर न हो कर एव धुए आदि किसी सावद्य कर्म का प्रयोग न कर वही पर स्थिर रहना दश-मशक परीषह है। (Stinging insects)

अचेल परीषह—अपने पास रहे हुए अल्प एव जीर्ण-शीर्ण वस्त्रो मे सयम निर्वाह करना, अन्य अमूल्य वस्त्रादि लेने की इच्छा न करना. (Nakedness)

अरति परीषह—मन के अनुकूल साधनो (वस्त्र-पात्रादि) के न मिलने पर आकुल-व्याकुल होना, चिन्तित रहना अरति है, और उसे सम भाव मे सहन करना अरति परीषह है। (Discontentment or disliking.)

चर्या—विहार करने मे, चलने मे जो श्रान्ति-थकावट होती है उसे शाँति पूर्वक सहन करना चर्या परीषह है। (wandring)

निषद्या—शमशान, शून्य मकान, वृक्षतल मे तथा गुहादि मे ध्यान अवस्था मे मनुष्य, देव, पशु द्वारा किसी भी प्रकार का अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपसर्ग आने पर उस से बचने के लिए उस स्थान को छोड कर न जाना बल्कि उन उपसर्गों को दृढता पूर्वक

सहन कर लेना निषद्या परीषह है। (Isolation)

शैय्या परीषह—सोने के लिए ऊची नीची, कठोर, जमीन, पट्ट आदि मिलने पर मन मे उस के प्रति द्वेष न लाकर सहज ही नीद ले लेना शैय्या (Lodging) परीषह है।

आक्रोश परीषह—भर्त्सना, कर्कश एव मर्मान्तिक वचनो को सुनकर भी शाति भाव बनाये रखना आक्रोश परीषह है। (Abuse)

वध परीषह—अन्य द्वारा लाठी, तलवार, चपेट, मुष्टिक आदि प्रहार होने पर भी किञ्चित रोष न लाना अर्थात् उसे सहन करना वध परीषह है।

याचना परीषह—सयम साधना मे रहने हुए जीवन निर्वाह के लिए भोजनादि की आवश्यकता रहती ही है अत उसकी प्राप्ति के लिए स्वय माग कर लाना भिक्षा कहलाती है, और उस भिक्षा की याचना करते समय अपमान, लज्जा आदि को जीतना–सहना याचना परीषह है।

अलाभ परीषह—मन इच्छित व आवश्यक वस्तु के न मिलने पर शात रहना, उत्तेजित एव दुखित न होना अलाभ परीषह है।

रोग परीषह—शरीर व्याधियो का घर है, अत शरीर मे रोग उत्पन्न होने पर भी उस कष्ट को सहन करना रोग परीषह है।

तृणः स्पर्श परीषह—दर्भ, घास आदि पर सोने से घास के तृणो के कठोर स्पर्श–चुभने से अथवा खुजली आदि के हो जाने पर उद्विग्न न होना तृण स्पर्श (Pricking of grass) परीषह है।

मल्ल परीषह—शरीर पर स्वेद–पसीने के कारण मैल जम जाने पर

भी स्नानादि की इच्छा न करना।

सत्कार परीषह—सामाजिक, राष्ट्रीय, दैवीय आदि सत्कार प्राप्त हो जाने पर मन मे अभिमान न लाना तथा किसी प्रकार के आदर-सत्कार के न मिलने पर आर्त्त-ध्यान न करना सत्कार परीषह है।

प्रज्ञा परीषह—विचक्षण बुद्धि के मिलने पर मद न करना तथा ज्ञानावरण कर्मोदय से बुद्धि मन्द होने से दुखित न रहना, वल्कि निरन्तर अभ्यास करते रहना प्रज्ञा परीषह है।

अज्ञान परीषह—ज्ञान प्राप्ति के लिए तपस्या, ज्ञानाभ्यास आदि अथक परिश्रम एव प्रयत्न करने पर भी ज्ञान की प्राप्ति न होने पर अपने आप को पुण्यहीन, निर्भाग आदि न समझ कर शांत भाव से प्रयत्न करते रहना ही अज्ञान परीषह है।

सम्यक्त्व परीषह—नाना प्रकार के प्रलोभन मिलने पर भी अन्य पाषण्डियो के आडम्बरादि पर मोहित न होकर सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्त पर अटल विश्वास रखना ही सम्यक्त्व (Righteousness) परीषह है।

समिति क्या है ?

आत्मा की सम्यग् प्रवृति ही समिति है, अर्थात् प्रवृति लक्षण वाली क्रिया समिति है—"समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे"
अथवा जीवन मे बोलने, चलने, फिरने, खाने-पीने, वस्तु को लेने देने आदि की आवश्यक क्रियाए करनी ही पडती है, अत उन मे विवेक उपयोग व यत्ना रखना या उन्हे सावधानी से करना समिति कहलाती है। (Aspects of self-regulation)*

ईर्या समिति—ईर्या का अर्थ गमन-आगमन (चलना फिरना) है अत

*The cultivation of the habit of carefulness, in respect of the walking speaking etc —The practicl path by C R. Jain

विवेक पूर्व चलना ईर्या समिति (walking activity) है।

भाषा समिति हित-मित, प्रिय एव निर्दोष भाषा का बोलना भाषा समिति (Speaking activity) है।

एषणा समिति—कल्पनीय (ग्रहण करने योग्य) आहारादि का ग्रहण करना एषणा (Receiving activity.) समिति है।

आदान-निक्षेपणा समिति—वस्तु का सम्यग् प्रकार से उठाना और रखना यह विवेक युक्त प्रवृत्ति आदान-निक्षेप और है यही आदान-निक्षेपणा समिति कहलाती है (Keeping of thing.) है।

उत्सर्ग समिति—त्याग करने योग्य (कफ, मल-मूत्र आदि) पदार्थों का जीव रहित स्थान पर डालना, परठना उत्सर्ग समिति (Evacuation and disposal of faeces urine and the like) है।

ये पाँच क्रियाए समिति कहलाती है जो जीवन के लिये अत्यावश्यक है। इनको सावधानी से करते हुए नवीन कर्मो का निरोध होता है तथा असावधानी कर्माश्रव और वन्ध, हानि का कारण है।

गुप्ति—मन, वाणी और शरीर का हिसा आदि सर्व अशुभ प्रवृत्तियो से निग्रह (वश) करके रखना गुप्ति है अर्थात् निवृत्ति लक्षण वाली क्रिया गुप्ति है "गुत्ति नियत्तणेवुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो"। (The control of mind, speach, and body, self-control)

मन को अशुभ सकल्प-विकल्पो से, वाणी को कटु, असत्य, सदिग्ध आदि दोषो से, काया को हिसा आदि सावद्य प्रवृत्ति से रोक कर रखना ही गुप्ति है। इस का उच्चस्थिति योगो का सर्वथा निरोध है। यानि शुभ-अशुभ किसी प्रकार का व्यापार न होना भी गुप्ति है। यह प्रवृत्ति का निषेध और निवृत्ति का विधान करती है। क्योंकि आश्रवका मूल कारण योग ही है अर्थात् मन आदि की प्रवृत्ति है अत.

इसके निरोध मे ही सवर, पाप मार्ग रुप जाते है।†

मन गुप्ति–आर्त्त एव रौद्रध्यान सम्बन्धी अशुभ कल्पनाओ का त्याग' असत्कल्पना वियोगिनी है। इस से चित्त शात रहता है।

प्राण, भूत, जीव, सत्त्वो पर समभाव रखना 'समता भाविनी है। इस मे परिणामो मे सक्लेश उत्पन्न नही होता।

कैवल्य ज्ञान प्राप्त हो जाने पर चित्त की जो अवस्था होती है उसे आत्मा-रामता कहते है। (यहा चित्त आत्मानुरूप–अनुगामी हो जाता है।)

वचन गुप्ति–पाप प्रवृत्ति से सर्वथा मौन धारण करना, मौन का आश्रय लेना मौनावलबिनी है।

वायुकाय आदि जीवो की रक्षा के लिए मुखवास्त्रिका धारण करना वाङ्नियमिनी वचन गुप्ति है।

काय गुप्ति–कायोत्सर्ग–ध्यानावस्था मे अनेक प्रकार के उपद्रव उपस्थित होने पर भी काया को स्थिर रखना,तथा योग निरोध अवस्था मे कायचेष्टा का सर्वथा स्थिति करण 'चेष्टा निवृत्ति' है। अथवा काया की चेष्टा (व्यापार) का निरोध।

साधकावस्था मे सोने, बठने, चलने फिरने मे शरीर की जो नियमित (मर्यादित) अवस्था होती है उसे यथासूत्रचेष्टा निवृति कहते है।

संरंभ–मन मे हिसादि का सकल्प–विचार करना सरभ है।

समारंभ–हिंसादि कार्य के लिए साधन जुटाना समारभ है।

† The self-control (gupti) is an additional means of the inflow. Self control nothing but the control of the three-fold activities.—Jaina psychology by M.L Mehta.

आरम्भ—मन मे सकल्प किए हुए कार्य का शरीर द्वारा आरम्भ करना।

यति-धर्म—श्रमणधर्म—वे गुण जो आत्म-सयम के लिए आवश्यक है तथा जो मानव को महामानव बनाने मे कारण है। अथवा सयति के द्वारा पालन किया जाने वाला चरित्र ही श्रमण धर्म (Moral-virtue) है।

क्षान्ति, क्षमा—प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव का सम्बन्ध रखते हुए किसी पर क्रोध न करना, मन मे शाति बनाये रखना क्षमा धर्म है। अथवा शक्ति के होने पर भी उसका प्रयोग न करना, शाति रखना क्षमा है। (Forgiveness, forbearance)

मुक्ति, निर्लोभिता—लोभ न करना, (Contentment)

आर्जव सरलता—कपट न करना, (Straight-forwardness.)

मार्दव, मृदुता—नम्रता रखना, अहकार का न होना, (Humility, modesty)

लाघव—द्रव्य-भाव से हल्कापन, (Non-attachment)

सत्य—निर्दोष और यथा तथ्य वचन बोलना (Truthfulness)

संयम—हिंसादि से निवृत होना सयम है अथवा कुत्सित मनोवृत्तियो, कामनाओ, एव इन्द्रियो पर अकुश रखना ही सयम है। (Self-restraint)

तप—इच्छाओ का निरोध ही तप है (Austerity)

त्याग—परिग्रह से सर्वथा रहित होना† (Renunciation)

---

†अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना और प्राप्त भोगों से विमुख हो जाना त्याग है।

ब्रह्मचर्य–शील का पालन करना, (Celibacy.)

भावना से क्या अभिप्राय है ?

"चित्त को स्थिर करने के लिए किसी तत्त्व का पुन २ चिन्तन करना भावना है।" अथवा भावना का सामान्य अर्थ तो मन के विचार, आत्मा के शुभ-अशुभ परिणाम है किन्तु यहा किसी विशेष परिस्थिति वश या अनायास ही किसी घटना को घटित होते देखकर एक विशेष प्रकार का मन मे विचार लाना (चिन्तन करना) ही अर्थ लिया गया है। (Contemplation, contemplation means repeated thinking of a particulars idea or object †)

अनित्यत्व–तन-धन-यौवन, कुटुम्ब आदि सासारिक पदार्थ अनित्य अशाश्वत हैं, एक आत्मा ही नित्य है, इस प्रकार का विचार करना अनित्यभावना है। The fleeting nature of thing) 'अणिच्चे जीव लोगम्मि, अथवा 'जीवियचेव रूव च विज्जु सपाय चचल।

अशरणत्व–बलिष्ठ के पजे मे निर्बल के फस जाने पर उसका कोई रक्षक (त्राण) नही होता, उसी भाँति आधि-व्याधि, जरा-मरण आदि निकृष्ट तत्त्व के द्वारा आत्मा के घिर जाने पर माता-पिता, धन-परिवार आदि छुडाने मे सहायक नही होते, उस समय स्वोपार्जित कर्म तथा जिन प्रतिपादित धर्म ही रक्षक होते है "वित्तेण ताण ण लभे पमत्तो इमम्मि लोए अदुवा परत्था।" मुनि अनाथी ने ऐसा चिन्तन किया था। (The halplassness of a particular individual)

संसार–यह ससार क्या है, यहाँ जन्म-जरा-मरण आदि-व्याधि रूप

† Jaina psychology, by Mohan Lal Mehta

भीषण सकटो को जीव भोगते है, स्व कर्मानुसार ही नर्क, तिर्यच, देव, मनुष्यादि गतियो मे शुभ-अशुभ यातनाए वेदते रहते हैं, इसकी दशा बडी विचित्र है। जो जीव यहा माता के रूप मे सम्बन्ध रखता है, वही किसी समय भार्या, भगिनी, पुत्री आदि के रूप मे परिवर्तित हो, उस के सामने आता है, यहा की सर्व वस्तुए विध्वसनशील है। सिवाए धर्म के यहा के पदार्थ परिवर्तनशील हैं। "जन्म दुक्ख जरा दुक्ख, रोगाणि मरणाणि य। अहो दुक्खो हु ससारो, जत्थ कीसति जन्तवो।" इस प्रकार का चिन्तन (The miserable nature of the world.) ससार भावना है।

एकत्व—जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है, अकेला ही शुभ-अशुभ कर्म का उपार्जन कर के सुख-दुख भोगता है किन्तु दुख के काल में कोई मित्र. बान्धव आदि साथ नही देते अर्थात् जीव स्वय अकेला ही अपनी क्रियानुसार कार्यान्वित होता रहता है "कम्मस्स ते तस्स उ वेय काले न बधवा बधवय उवेति," तथा "आया अकेलो अवतरे मरयाँ अकेलो होय" इस प्रकार अकेलेपन का अनुभव करना (The loneliness of the worldy sojourn) एकत्व भावना है।

अन्यत्व—मैं अन्य हू, देह भिन्न है, छह द्रव्यो मे भी मैं भिन्न हू, क्योकि मैं चैतन्य हू, मेरे मे कर्मो से मुक्त होने की पूर्ण शक्ति है, सत् चित् एव आनद की पूर्णता प्राप्त कर लेने का अनन्त पुरुषार्थ है, अत पुरुष हू, शरीर मूर्त्त है, मैं अमूर्त्त हू, आत्मा का जड से सम्बध अवश्य है किन्तु वह अनादि सान्त है। अनित्य है, अविनाभावी नही मूर्त्त होने से पुदगल-गलन सडन, सयोग-वियोग आदि नाना प्रकार के नश्वर गुणो वाला है जब कि आत्मा अजरत्व, अमरत्व, अविनाशित्व आदि गुण युक्त है।

इस प्रकार भेदविज्ञान का आश्रय लेकर चिन्तन करना अर्थात् इन भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त अन्य वस्तु भी है जो उपर्युक्त गुणो वाली है आदि विचार करना The distinctness of the self from body) अन्यत्व भावना है।

अशुचित्व—यह शरीर औदारिक शरीर है, शुक्र एव वीर्य से इस का निर्माण हुआ है (जो स्वय मे मल रूप है) मास पिण्ड है, अशुचि द्रव्यो से पूरित है तथा जो इसके दश द्वारों से सदा वहते रहते हैं, "इम सरीर अणिच्च, असुई सभव" किन्तु रे जीव ! तू शुद्ध है, पवित्र है, आदि विचार करना अशुचि भावना है। (The impure character of the body)

आश्रव—आत्मा मे मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा अशुभ योगो रूप आश्रव द्वारो द्वारा निरन्तर नूतन कर्मो का आगमन होता है, यही कर्म वन्ध, जन्म-मरण, विभाव दशा आदि का कारण है इत्यादि आश्रव के स्वरूप का चिन्तन करना आश्रव भावना है। (The conditions and conseguences of the inflow of karmic matter)

संवर—आश्रव मार्ग को रोकना ही सवर है अर्थात् सवृत आत्मा अशुभ कर्मों का सतप्त नही होता, संवर निर्जरा का मुख्य कारण है इत्यादि विचार करना सवर भावना है (The means for the stoppages of karmic inflow.) मुनि हरिकेशी ने ऐसा सोचा।

निर्जरा—आत्म-प्रदेशो मे कर्माणुओ का एक भाग से पृथक् होना कर्मों का जीर्ण हो कर निर्जरण हो जाना निर्जरा है। यह दो प्रकार की है सकाम और अकाम। सकाम ज्ञानयुक्त, अकाम अनिच्छापूर्वक। विना निर्जरा के कर्म सम्वन्ध से जीव मुक्त नही होता, निर्जरा

ही विशिष्ट ज्ञान एव आत्म-शुद्धि का मुख्य साधन है ऐसा चिन्तन करना निर्जरा भावना है। (The conditions of the dissociation of karmic matter from the Soul) अर्जुन माली ने ऐसा सोच कर ही भयकर यातनाए समभाव से सहन की थी।

लोक स्वरूप—लोक क्या है ? उस की आकृति कैसी है आदि विचार करना लोक स्वरूप भावना है। अथवा दोनो हाथ कमर पर रख कर तथा दोनो पांवो को फैला कर खडे हुए पुरुष की आकृति की भाति लोक है। इस मे धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल तथा काल द्रव्य अवस्थित है। धर्म द्रव्य जीव और पुद्गल के चलने मे सहायक साधन है, अधर्म स्थिरता में, आकाश अवकाश—स्थान मे और काल वस्तुस्वरूप को परिवर्तित करने मे सहायक है। अर्थात् उपर्युक्त स्वभाव वाले तत्त्व सम्पूर्ण लोक मे व्यापक है, लोक स्वरूप भावना है। (The nature of the constituents of the universe.)

बोधि दुर्लभ—सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति की दुर्लभता पर विचार करना बोधि दुर्लभ भावना है। अर्थात् अनादि-अनन्त ससारमे अनन्त काल से जीव भव-भ्रमण कर रहा है। इसने आर्य देश, मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, दीर्घायु, पूर्णइन्द्रिय, मानवीयऋद्धि, स्वर्गीय ऋद्धि जैसी दुष्प्राप्य वस्तुए भी प्राप्त की किन्तु एक सम्यग् ज्ञान के अभाव मे इन सब को निर्थक ही गवाँ दिया अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति नही हुई। क्योकि ज्ञान प्रकाश करने वाला है अन्यथा इस के अभाव मेजीव तम ग्रस्त ही रहता है इस प्रकार विचार करना बोधि दुर्लभ भावना है। (The difficulty of the attainment of enlightenment)

धर्म दुर्लभ भावना—निर्मल मनुष्य भोग, देवताओ की दिव्य ऋद्धि पुत्र-मित्र, विशद परिवार आदि ये सब साधन जिन्हे ये प्राप्त नही है उन्हे यहा इस भव मे अथवा जन्मान्तर मे प्राप्त हो सकते है किन्तु

मोक्ष के साधन भूत श्रुत-चारित्र रूप धर्म की प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है। तथा उक्त धर्म के शुद्ध प्ररूपको का मिलना भी कठिन है ऐसा चिन्तन धर्म दुर्लभ भावना कहलाती है। (The true nature of reality) धर्म रुचि अणगार ने धर्म दुर्लभ प्राप्ति का चिन्तन करके ही नाग श्री द्वारा दिया हुआ कटु तुम्बे के शाक का आहार कर लिया था।

चारित्र से क्या अभिप्राय है ?

वह क्रिया जो शुभ-अशुभ कर्मों के अस्तित्व को नष्ट करे चारित्र है। अथवा अशुभ कर्म से निवृत होना और शुभ कर्म मे प्रवृत्त होना ही चारित्र कहलाता है। (Auspicious conduct) "असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ती य जाण चरित्त।"

सामायिक चारित्र—मानसिक, वाचिक और कायिक सावद्य व्यापार का (प्रवृत्ति) त्याग करना तथा निरवद्य (पाप रहित) व्यापार का आचरण करना ही समायिक है, अथवा वह अनुष्ठान जिस से ज्ञान, दर्शन, चरित्र की तथा समभाव को आय हो।

छेदोपस्थापनीक चारित्र—किसी दोष स्थान के सेवन हो जाने पर उस की शुद्धि के लिए पूर्व दीक्षापर्याय छेद (कम करना) या समाप्त कर पुन नियमो को ग्रहण करना छेद-उपस्थापनीक चारित्र है।

परिहार विशुद्धिक चारित्र-शास्त्रीय विधि के अनुसार नव साधु गच्छ से अलग हो कर अठारह मास तक तप करते है, वह अनुष्ठान परिहार विशुद्धि चारित्र कहलाता है।

---

†लब्भंति विमला भोए, लब्भति सुर सपया।
लब्भंति पुत्त मित्त च, एगो धम्मो न लब्भई।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—सूक्ष्म कषाय के अश को सम्पराय कहते है, यह कषाय दशवे गुणस्थानवर्ती को होता है अत. इस का जो चरित्र है वह सूक्ष्म सम्पराय चरित्र कहलाता है।

यथाख्यात चारित्र—कषायो के पूर्ण क्षय हो जाने पर आत्मा के जो विशुद्ध परिणाम और प्रवृत्ति होती है उसे यथाख्यात चारित्र कहते है। अर्थात् सूक्ष्म सम्पराय के वाद जो चरित्र होता है वह सम्पूर्ण चरित्र है अत. यथाख्यात कहलाता है।

चरित्र के ये भेद स्वरूप और साधना के आधार पर है, गुण रूप तो चरित्र एक ही होता है। चारित्र से नवीन कर्माश नष्ट होते है और तप से पूर्व सचित कर्म नष्ट हो जाते है आत्मा अपने विशुद्ध रूप मे अवस्थित होती है तो नाना प्रकार की शक्तिया उद्‌बुद्ध हो जाती है। अत. आत्मा इस अनुष्ठान से सवृत होती है।†

†Auspicious conduct is halpful in practising self-control, in checking the inflow of karmic matter, and lastly in eliminating the accumulated karmic particles

"Pure conduct is an innate property of the self. It is distorted or obscured by the influence of a particular type of karma known as conduct-deluding *(Caritra mohaniya)* Karma"—Jaina psychology. by M L Mehta

निर्जरा तत्त्व

सातवां

निर्जरा किसे कहते है ?

आत्म-प्रदेशो से कर्म प्रकृतियो (कर्माणुओ) का एक देश से पृथक् होना, अथवा शुभ-अशुभ कर्म रूप आवरण का अलग हट जाना निर्जरा है। Destruction of Karmas

जिस क्रिया से कर्म जीर्ण हो और आत्म-स्वरूप प्रगट हो वह अनुष्ठान निर्जरा 'तत्त्व है। अर्थात् जीव रूप वस्त्र जो कर्म रूप मैल से मलिन हो रहा है उसे ज्ञान-रूप जल, (तप-सयम) चरित्र रूप क्षार से धो कर निर्मल करना, यही इस तत्त्व का स्वरूप है।

निर्जरा के मूल भेद—

[निर्जरा के मूल भेद बारह प्रकार के तप है, वे बाह्य-आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के हैं।†]

बाह्य तप छह—	आभ्यन्तर तप छह—
१ अनशन	१ प्रायश्चित
२ ऊनोदरी	२ विनय
३ भिक्षाचारी	३ वैयावृत्य

†सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो जहा,
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमभन्तरो तवो।—उत्त० ३० (देखो पृष्ठ १०१ पर)

४ रस-परित्याग ४ स्वाध्याय

५ काय-क्लेश ५ ध्यान

६ प्रतिसंलिनता ६ व्युत्सर्ग

[उत्त० ३०।६।८।]

तप के उत्तर भेद

अनशन तप के दो भेद है—

१ इत्वरिक २ यावत्कथिक

(इत्तरिय, आवकहिपय)

इत्वरिक तप के छह भेद–

१ श्रेणी तप २ प्रतर तप ३ घन तप

४ वर्ग तप ५ वर्गावर्ग तप ६ आकीर्ण तप

श्रेणी तप के १४ भेद—

१ व्रत २ वेला ३ तेला ४ चौला ५ पचौला

६ छौला ७ सतौला ८ अर्द्धमास ९ मास १० दो मास

११ तीन मास १२ चार मास १३ पांच मास १४ छह मास

प्रतर तप के सोलह भेद–

१ व्रत† २ वेला ३ तेला ४ चौला

५ वेला ६ तेला ७ चौला ८ व्रत

९ तेला १० चौला ११ व्रत १२ वेला

१३ चौला १४ व्रत १५ वेला १६ तेला

† व्रत आदि का अर्थ है एक उपवास, दो उपवास, तीन उपवास, चार उपवास।

३ घन तप के चौसठ भेद—

१६ उपवास, १६ बेले, १६ तेले, १६ चौले=६४ ।

४ वर्ग तप के चार हजार छयानवें भेद—

एक हजार चौबीस उपवास, एक हजार चौबीस बेले,
एक हजार चौबीस तेले, एक हजार चौबीसी चौले,

[१०२४×४=४०९६]

५ वर्गावर्ग के १ क्रोड ६७ लाख, ७० हजार, २१६ भेद है ।

४१ लाख, ९४ वें हजार ३०४ व्रत,

,, ,, ,, बेले,

,, ,, ,, तेले,

,, ,, ,, चौले+१,६७,७७,२१६ ।

[वर्ग एव वर्गावर्ग तप चौथे आरे (सुखमदुखम) मे किया जाता है पचम काल मे आयु, सहनन आदि की निर्वलता के कारण नही होता ।]

६ आकीर्ण तप के दस भेद—

१ नवकारसी	५ एकस्थान
२ पौरुपी	६ निर्विकृतिक
३ दो पौरुपी	७ आयम्बिल
४ एकाशन	८ अभिग्रह
९ चरम प्रत्याख्यान	१० ग्रन्थि, मुष्टि, मुद्रिका आदि ।†

†नम्मुकारसहिय, पोरिसियं पुरिमड्ढ एगासणं, एगलट्ठाण निव्विइयं
,, आयम्बिले, अभिग्गहं, चरिम पच्चक्खाणे, गठि मुट्ठिमाई ।

[अन्य भी विविध प्रकार के नियम इसी आकीर्ण तप के अन्तर्गत आ जाते है । १०वे ग्रन्थि-मुष्टि प्रत्याख्यान का अर्थ है, अमुक समय तक गाठ बन्धी रहे तब तक का पच्चक्खाण, अमुक काल तक मुट्ठी वन्ध रहे, अथवा दायी अगुली मे से मुद्रिका जब तक बाँयी अगुली मे न डाली जाये तब तक आहारादि का नियम है आदि ये साकेतिक प्रत्याख्यान कहलाते हैं ।] [उत्त० औप० भ०]

२ यावत्कथिक तप के तीन भेद—

१ भक्त प्रत्याख्यान, २ इंगित मरण, ३ पादोपगमन,

(भत्त पच्चक्खाणे, इंगियमणे, पाओवगमणे ।)

१ भक्त प्रत्याख्यान के छह भेद—

१ नगर के अन्दर करे, २ नगर के बाहिर करे, ३ कारण से करे, ४ बिना कारण करे, ५ पराक्रम सहित करे, ६ पराक्रम रहित करे ।

२ इगिनी मरण के छह भेद—

१ नगर में करे, २ नगर से बाहिर करे, ३ कारण से करे, ४ बिना कारण से करे, ५ पराक्रम सहित करे, ६ पराक्रम रहित करे ७ भूमि की मर्यादा करे ।

अणसण[1] मूणोयरिया[2] भिक्खायरिया[3] य रसपरिच्चओ[4]
कायकिलेसो[5] संलीणया, य बज्झो तवो होई ॥८॥
पायच्छित्त[1] विणओ[2] वेयावच्चं[3] तहेव सज्झाओ[4] ।
झाणं[5] च विउसग्गो[6] एसो आब्भिंतरो तवो ॥९॥

६ पादोपगमन के पांच भेद—

१ नगर में करे, २ नगर से बाहिर करे,

३ कारण से करे, ४ विना कारण करे,

५ पराक्रम रहित करे ।

ऊनोदरी तप

२ ऊनोदरी तप के दो भेद—

१ द्रव्य ऊनोदरी, २ भाव ऊनोदरी ।

१ द्रव्य ऊनोदरी के तीन भेद—

१ आहार ऊनोदरी, २ उपधि ऊनोदरी,

३ शैया ऊनोदरी ।

आहार ऊनोदरी के तीन भेद—

पुरुष के ३२कवल, स्त्री के २८ कवल, नपुंसक के २४कवल ।*

विशेष—[पुरुष कवल छोड, ३१ कवल का आहार करे तो जघन्य ऊनोदर तथा ३१ को छोड कर एक कवल का आहार करे तो उत्कृष्ट ऊनोदरी, शेष मध्यम ऊनोदरी तप है ।

इसी प्रकार स्त्री एक कवल छोडे और २७ का आहार करे तो जघन्य ऊनोदरी, २७ को छोडे और एक का आहार करे तो उत्कृष्ट ऊनोदरी तप है शेष मध्यम ऊनोदरी तप है ।

नपुंसक एक कवल को छोड, २३ का आहार करे तो जघन्य ऊनोदर और २३ को छोड कर एक का आहार करे तो उत्कृष्ट ऊनोदर, शेष मध्यम ऊनोदर तप होता है ।]

*कवल का परिमाण शास्त्रकारों ने मुर्गी के अण्डे जितना बतलाया है ।

उपधि ऊनोदरी—

भण्डोपकरण—वस्त्र, पात्र आदि उपधि अल्प रखना।

शैय्या ऊनोदरी—

शैय्या संकोच करना अर्थात् सोना, आदि।

भाव ऊनोदरी तप के आठ भेद—

१ अल्प क्रोध	५ अल्प शब्द
२ अल्प मान	६ अल्प झंझ
३ अल्प माया	७ अल्प कलह
४ अल्प लोभ	८ अल्प तुम तुमाहट

भिक्षाचर्या

भिक्षाचर्या के चार भेद—

१ द्रव्य २ क्षेत्र ३ काल ४ भाव।

द्रव्य भिक्षाचरी के २६ भेद है।

१ उक्खित्त चरए २ निक्खित्त चरए ३ उक्खित्त-निक्खित्त चरए ४ निक्खित्त-उक्खित्त चरए ५ वट्टिज्जमाण चरए ६ साहरिज्जमाण चरए ७ उवणीअ चरए ८ अवणीअ चरए, ९ उवणीअ-अवणीअ चरए १० अवणीअ-उवणीअ चरए ११ संसट्ठ चरए १२ असंसट्ठ चरए १३ तज्जाए संसट्ठ चरए १४ अन्नाय चरए १५ मोण चरए १६ दिट्ठलाभए १७ अदिट्ठ लाभचरए १८ पुट्ठलाभए १९ अपुट्ठलाभए २० भिक्खलाभए

२१ अभिक्खलाभए २२ अन्नगिलाए २३ उवणिहिए २४ परिमित पिंड वत्तिए २५ सुद्धेसणिए २६ संखादत्तीए ।†

[स्था० उव०]

क्षेत्र भिक्षाचरी के आठ भेद—†

१ पेटीए=चारो कोनो के घरो से आहार लेना।

२ अद्धपेटीए=दो कोनो के दो घरो से आहार लेना।

३ गोमुत्ते=गो मूत्र की तरह टेढे-मेढे पक्ति वद्ध घरो से आहार लेना।

४ पतंगिए=पतग के उडने के समान फुटकल घरो से आहार लेना।

५ अब्भितर-संखावत्त=शख आवर्त की भाति पहले नीचे के घर मे और फिर ऊपर के घर से आहार लेना।

६ वाहिर-संखवत्त=पहले ऊपर के घर से और फिर नीचे के घर से आहार लेना।

७ गमणे=जाते हुए आहार लेना।

८ आगमणे=आते हुए आहार लेना।

[उत्त० सा०]

काल भिक्षाचरी के चार भेद—

१ प्रथम प्रहर में आहार लाना प्रथम प्रहर में भोगना।
शेप तीन प्रहर का त्याग।

२ दूसरे प्रहर मे „ दूसरे „ „

३ तीसरे प्रहर में ,, तीसरे ,, ,, ,, ,, ।
४ चौथे प्रहर में ,, चौथे ,, ,, ,, ,, ।

[उत्त० ३०]

भाव भिक्षाचरी के १५ भेद—

तीन आयु की स्त्री—१ बाल २ युवा ३ वृद्ध ।
तीन आयु का पुरुष—१बाल २ युवा ३ वृद्ध ।
७ अमुक वर्ण ८ संस्थान ६ अमुक वस्त्र १० बैठा हो,
११ खड़ा हो १२ शिर खुला हो १३ शिर ढका हुआ हो
१४ आभरण सहित हो १५ आभरण रहित हो ।

[ये अभिग्रह– प्रतिज्ञा विशेष है कि इस अवस्था मे मुझे दाता भोजन देगा तो आहार लेना है अन्यथा नही। दाता की स्थिति बतायी है कि वह बालक हो, गौर वर्ण वाला हो, समचउरस आकृति वाला हो, पीत वस्त्रो से युक्त हो, बैठा हुआ आदि ।]

रस परित्याग तप

रस परित्याग के १६ भेद—

१ निव्विगए=दही, घी आदि विगयो का त्याग करना ।
२ पणीय रस परिच्चए=प्रणीत रस का त्याग करना ।
३ आयंबिलए =आयम्बिल करना ।
४ आयमसित्थभोए=ओसामण मे रहे धान्य कणो का आ० ।
५ अरस आहारे=रस और मसाले से रहित भोजन करना ।
६ विरस आहारे=पुराना पका हुआ धान का भोजन करना ।
७ अन्ताहारे=मटर, चना, उडद आदि के बाकुलो का आहार लेना।

८ पन्ताहारे—ठडा-वासी आहार करना।

९ लुहाहारे=रूक्ष आहार करना।

१० तुच्छाहारे=जली हुई खुरचन आदि तुच्छ आहार करना।

११ अरस जीवी १२ विरस जीवी १३ अन्त जीवी १४ पन्त जीवी १५ लूह जीवी १६ तुच्छ जीवी।

[औ०स्था०सम०]

काया-क्लेश

काया क्लेश के १६ भेद—

१ ठाणा ठितिए—कायोत्सर्ग कर के खडे रहना।

२ (निस्सही) ठाणाइए—एक स्थान पर बैठे रहना।

३ उक्कडासणिए—उत्कटासन करना—दोनो घुटनो मे सिर झुका कर कायोत्सर्ग करना।

४ पडिमट्ठाई—प्रतिमा की भांति स्थिर रहना, पद्मासन लगाना।

५ वीरासणिए—वीरासन करना।

६ नेसज्जिए—दोनो कूल्हो के बल भूमि पर बैठना।(पालथी कर बैठना)

७ लगण्डसाइ—टेढी लकडी की तरह लेट कर कायोत्सर्ग करना। (लकडासन करना)

८ दंडायए—दण्डासन करना, लम्बे लेट कर कायोत्सर्ग करना।

९ आयावए—आतापक=धूप आदि की आतापना लेना।

१० अवाउडए—अप्रावृतक=वस्त्ररहित होकर शीत आदि की वेदना सहना।

११ अकंडुयाए—अकण्डूकाए=कायोत्सर्ग मे खुजली न खुरचना।

१२ अणिट्ठुहए—अनिष्ठुवक=कायोत्सर्ग समय मे थूक न थूकना।

१३ सव्वगयपरिकम्म—शरीर के अगोपाँगो पर ममत्व न रखना।

१४ विभूप विप्पमुक्के—विभूषा—शृगार का त्याग करना।

१५ लोयई परीसह—केश लुचन करना।

१६ चरिया—विहार करना।

[स्था० औ०]

प्रतिसलीनता तप

प्रति सलीनता तप के चार भेद—

१ इन्द्रिय प्रतिसंलीनता २ कषाय प्रति संलीनता,
३ योग प्रति संलीनता ४ विविक्त शैय्यासन प्रतिसंलीनता।

इन्द्रिय प्रतिसलीनता तप के ५ भेद—

१ श्रोत्रेन्द्रिय प्रतिसंलीनता—श्रोत्रेन्द्रिय को विषयो की ओर जानेसे रोकना तथा श्रोत्र द्वारा गृहीत विषयो मे राग-द्वेप न करना।

२ चक्षुरिन्द्रि प्रतिसंलीनता—चक्षुरिन्द्रिय को उपर्युक्त ही

३ घ्राणेन्द्रिय प्रतिसंलीनता— ,, ,, ,,।

४ रसनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता— ,, ,, ,,।

५ स्पर्शनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता— ,, ,, ,,।

कषाय प्रतिसलीनता के ४ भेद—

१ क्रोध प्रतिसंलीनता—क्रोध का उदय न होने देना, और उदय मे आए हुए को निष्फल करना।

२ मान प्रतिसंलीनता—मान का „ „ „

३ माया प्रतिसंलीनता—माया का „ „ „

४ लोभ प्रतिसंलीनता—लोभ का „ „ „

योग प्रतिसलीनता के ३ भेद—

१. मन प्रतिसंलीनता—मन की अकुशल प्रवृत्ति को रोकना, कुशल प्रवृत्ति करना, चित्त को एकाग्र करना।

२. वचन प्रतिसंलीनता—वचन की अकुशल प्रवृत्ति को रोकना, कुशल प्रवृत्ति करना, वचन स्थिर करना।

३. काय प्रतिसंलीनता—भली-भाति समाधि पूर्वक शान्त होकर, हाथ पैर सकुचित करके कछुए की भाति गुप्तेन्द्रिय होकर शरीर को स्थिर करना काय प्रतिसलीनता है।

विविक्त शैय्यासन प्रतिसलीनता (के भेद)—

१. स्त्री-पशु-नपुंसक से रहित† स्थान का सेवन करना।

[औ० उत्त० स्था०]

प्रायश्चित तप

[प्रायश्चित के पचास भेद है—जो दोष, आलोचना, आलोचक, निर्णायक–गुरुजन तथा प्रायश्चित प्रकार भेद से विभक्त है। मूल रूप मे प्राश्चित के दस भेद हो हैं।]

[साधनावस्था मे निम्न दस कारण आत्मा को दूषित करने

---

†आराम—पुष्पोद्यान, उद्यान—पुष्प-फल वृक्षा से युक्त, देवालय, सभास्थान, पवा-प्याऊ, भण्डगृह, व्यापार स्थान, आदि ये साधु के रहने के स्थान हैं जो स्त्री आदि स रहित होने चाहिए अर्थात् शैयादि यहा हो।

शैय्या—जिस पर सोने से पूरे पाव आ जावे, सम्तारक—शैय्या से कुछ कम हो।

वाले हैं। ये प्रतिसेवना-पापप्रवृत्ति कहलाती है-कंदर्प प्रतिसेवना आदि।]

दश प्रकार से आत्मा (प्रतिसेवना‡) दोष लगाता है—

१. †कंदर्प—काम में पीड़ित होकर।

२. प्रमाद वश होकर।

३. अज्ञान वश होकर। (विस्मृतिपूर्वक)

४. क्षुधा-पिपासा आदि से पीड़ित होकर।

५. आपत्ति वश।

६. संदेह (शंका) वश होकर।

७. अनायास ही।

८. भय वश होकर।

९. राग-द्वेष वश होकर।

१०. परीक्षा अवस्था में।

'(दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आतुर, आपत्ति, शङ्कित, सहसाकार, भय, प्रद्वेष, विमर्श)

दश प्रकार से आत्मा दोषो की आलोचना करता हुआ दोष लगाता है—

१. कांपते कांपते आलोचना करने से,

२. अनुमान प्रमाण से आलोचना करने से,

†"दर्प—अहकार पूर्वक अकृत्य सेवन" ऐसा भी पाठ है।

‡प्रतिसेवना—पाप-प्रवृत्ति दो प्रकार की है—दर्पिका और कल्पिका। राग-द्वेष वश हुई प्रतिसेवना दर्पिका है इससे जीव विराधक होता है, किन्तु राग-द्वेष रहित हुई कोई पाप-प्रवृत्ति कल्पिका कहलाती है। इससे जीव आराधक ही रहता है।

३. देखे हुए दोष की ही आलोचना करने से,

४. सूक्ष्म-सूक्ष्म दोषों की ही आलोचना करने से,

५. बादर-बादर (स्थूल) दोषों की ही आलोचना करने से,

६. गुणगणाट करते हुए—अस्पष्ट शब्दों में आलोचना करने से,

७. ऊंचे स्वर से-(अन्यों को सुनाई दे सके) आलोचना करने से,

८. अनजान-जिसे आलोचना सिद्धान्त का ज्ञान ही नहीं है, अगीतार्थ के सामने आलोचना करने से,

९. एक दोष को अनेकों के सामने आलोचना करने से,

१०. प्रायश्चिती—जो स्वयं ही प्रायश्चित का अधिकारी है, के पास आलोचना करने से,

[ये आलोचना के दश दोष माने गये है। इस रूप मे यदि कोई आलोचना करता है तो आत्म शुद्धि की अपेक्षा आत्मा मलिन ही होती है।]

दश गुणो का धारक आलोचना करता है—

१ जातिवान्¹	२ कुलवान्	३ विनयवान
४ ज्ञानवान	५ दर्शनवान्	६ चरित्रवान
७ क्षमावान्	८ वैरागवान्	

¹मूलपाठ में "जाइसंपन्ने"—जाति संपन्न आदि पाठ है।

९ इन्द्रिय विजेता—पाचो इन्द्रियो को वश मे करने वाला।

१० अपश्चातापी—प्रायश्चित ले कर उसके लिए पश्चाताप करने वाला।

[उपरोक्त गुण आलोचक मे--जो आत्म-दोषो को प्रकट कर आत्मा की शुद्धि चाहता है, अवश्य होने चाहिए। इन गुणों के अभाव मे आलोचना करते हुए जीव का आलोचना दोषो से लिप्त हो जाने का प्रति क्षण भय रहता है। क्यों कि उस के हृदय मे पाप के लिए अनुताप और शुद्धि की भावना नहीं रहती।]

दश गुणो के धारक के पास आलोचना करनी चाहिए—

१. आचारवान् हो,

२. धारणावान हो,

३. व्यवहारों का ज्ञाता हो,†

४. लज्जा हटाने में समर्थ हो,

५. प्रायश्चित देकर शुद्ध करने की क्षमता हो,

६. खण्ड-खण्ड करके प्रायश्चित्त दे सकता हो,

७. गंभीर हो,*

८. लोक-परलोक का भय दिखा सके,

९. प्रिय धर्मी हो,

१०. दृढ़ धर्मी हो।

---

†व्यवहार के पाच भेद हैं—१ आगम व्यवहार २सूत्र व्यवहार ३ आज्ञा व्यवहार ४ धारणा व्यवहार ५ जीतव्यवहार।

*आलोचित दोषों को अन्य के सामने प्रकट न करता हो।

ये गुण जिस मे पाये जाँय उस व्यक्ति के समक्ष ही अपने दोषो का व्याख्यान करना चाहिये अन्यथा आत्मा मे पूर्व की अपेक्षा अधिक स्खलना, असमाधि उत्पन्न होने की आशका रहती है। जहाँ आलोचक के लिऐ (हृदय) अन्त करण की ऋजुता की अपेक्षा है वहा आलोचना सुनने वाले की योग्यता की भी अनिवार्यता है अन्यथा इस के अभाव मे आलोचना व्यर्थ होगी।

दस प्रकार का प्रायश्चित

१. आलोचना प्रायश्चित, २. प्रतिक्रमण प्रायश्चित,
३. तदुभय(आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों) प्रायश्चित,
४. विवेक प्रायश्चित, ५. व्युत्सर्ग प्रायश्चित,
६. तपः प्रायश्चित, ७. छेद प्रायश्चित,
८. मूल प्रायश्चित, ९. अनवस्थाप्य प्रायश्चित,
१०. पारांचिक प्रायश्चित।

[साधकावस्था मे प्रमाद, कषाय और अशुभ योग वश किसी समय आत्मा प्रतिसेवना—दोषो का सेवन कर सकता है अर्थात् साधना मे स्खलना, भूल हो जाना सभव है अत उस की शुद्धि के लिए उपर्युक्त दस अनुष्ठानो का विधान किया गया है, जिस के अनुकरण फलस्वरूप आत्मा शुद्ध होता हुआ अपने मार्ग मे पुन. अवस्थित हो जाता है। जैन दर्शन ने साधक के लिए आलोचना—भूल की स्वीकृति और उस की शुद्धि, इन दोनो मार्गों का प्रबल रूप से समर्थन किया है। भूल हो जाना स्वाभाविक है पर उसकी स्वीकृति और निराकरण के लिए पश्चाताप युत तप आदि का अनुष्ठान भी आवश्यक है। इस क्रिया से आत्मा स्वर्ण की भाति

निखर जाता है। आलोचना और प्रायश्चित से जीव मोक्ष मार्ग के विघ्न रूप मायादि शल्यो अनन्त ससार बन्धनो का उच्छेद कर ऋजु भाव को प्राप्त होता है तथा अमायी हो कर स्त्रीवेद, नपुंसक वेद का बन्धन नही करता पूर्वबद्ध का निर्जरण कर देता है। और प्रायश्चित से कृत पाप की विशुद्धि होती है अत· आत्मा निरतिचारी होता हुआ मोक्ष मार्ग और उस के फल का शोधन करता है एव आचार तथा आचार फल की अराधना करता है अत. आलोचना और प्रायश्चित आवश्यक है।]

विनय तप

विनय के सात भेद—

१ ज्ञान विनय २ दर्शन विनय ३ चारित्र विनय
४ मनो विनय ५ वचन विनय ६ काय विनय
७ लोकोपचार विनय

ज्ञान विनय के पाच भेद—

१ मतिज्ञानी की विनय करना २ श्रुतज्ञानी की विनय करना
३ अवधिज्ञानी की विनय करना
४ मन·पर्यव ज्ञानी की विनय करना
५ केवल ज्ञानी की विनय करना।

[ज्ञान के प्रति भक्ति, बहुमान अर्थात् विधिपूर्वक ज्ञान को ग्रहण करना और उसका अभ्यास करना तथा ज्ञानी जनो की भक्ति बहुमान ही ज्ञान का विनय कहलाता है।]

दर्शन विनय के दो भेद—

१ शुश्रूषा विनय २ अनाशातना विनय

शुश्रूषा विनय के दश भेद—

१. गुरुजनों के आने पर खड़े होना।

२. आसन देना।

३. आहार ला कर देना।

४. आज्ञा का पालन करना।

५. वंदना करना।

६. सत्कार करना।

७. सम्मान देना।

८. आवें तो स्वागत करना।

९. ठहरें तो सेवा-भक्ति करना।

१०. जायें तो छोड़ने जाना।*

अनाशातना विनय के भेद—

१ अरिहंत देव, २ अरिहंत प्रतिपादित धर्म, ३ आचार्य ४ वाचक, ५ स्थविर, ६ कुल, ७ गण, ८ संघ, ९ सांभोगिक १० क्रिया पात्र, ११ मतिज्ञान, १२ श्रुत ज्ञान १३ अवधि ज्ञान, १४ मनः पर्यव ज्ञान, १५ केवल ज्ञान

—इन १५ की अशातना टालना, गुणानुवाद करना और भक्ति-बहुमान करना (१५×३) ४५ भेद होते हैं।

[स्था० औ० भ०]

*सत्कार, अभ्युत्थान, सम्मान, आसनाभिग्रहण, आसनानुप्रदान, वंदन, अञ्जलिग्रह, अनुगमन, पर्युपासना, अनुव्रजन।

[सम्यग् दर्शनी पुरुष की विनय- दर्शन विनय है। तत्त्व की यथार्थ प्रतीति स्वरूप सम्यग्दर्शन से विचलित न होना, उस मे होने वाली शकाओ का समाधान करके नि शक भाव की साधना करना दर्शन विनय है।]

चरित्र विनय के पाच भेद—

१. सामायिक चारित्री की विनय।
२. छेदोपस्थापनीय चारित्री की विनय।
३. परिहार विशुद्धि चारित्री की विनय।
४. सूक्ष्म-सम्पराय चारित्री की विनय।
५. यथाख्यात चारित्री की विनय।

[इन चारित्रो के प्रति श्रद्धा भाव रखना अगीकार करना और अन्य को उपदेश देना, यही चारित्र की विनय है।]

मनो विनय के दो भेद—

१. प्रशस्त मन विनय २. अप्रशस्त मन विनय।

आदर योग्य आचार्य आदि के प्रति अकुशल मानसिक-व्यापार का निरोध तथा कुशल व्यापार की प्रवृत्ति ही मन विनय कहलाता है। अर्थात् आचार्य आदि गुरुजनो के लिए मन में किसी प्रकार का अशुभ भाव उत्पन्न न होने देना मनो विनय है।

अप्रशस्त मन विनय के भेद—

१ जेअ मणे सावज्जे—मन का पाप रूप—सावद्य होना।
२ ,, मणे सकिरिए—मन का कायिकी आदि क्रिया रूप होना।
३ ,, मणे सकक्कसे—मन का कर्कश भाव युक्त होना।

४ ,, मणे कडुए-मन का कटु होना अर्थात अपने तथा दूसरे के लिए मन को अनिष्ट रखना।

५ ,, मणे निट्ठुरे-मन का निष्ठुर होना, नम्रता आदि का न होना।

६ ,, मणे फरूसे-मन का परुप होना, यानि स्नेह का अभाव।

७ ,, मणे अण्हयकरे-मनका अशुभ कर्माश्रवी होना (आश्रवकर)

८ ,, मणे छेयकरे-मन मे हाथ आदि अगो को छेदन का विचार होना।

६ ,, मणे भेयकरे-मन मे नासिकादि को भेदन का विचार होना भेदनकारि मन है।

१० ,, मणे परितावणकरे-मन का प्राणियो को परितापनकारी होना।

११ ,, मणे उद्दवण करे-मन का उपद्रवकारी होना, अर्थात् मन मे जीवो को मारणातिक कष्ट देने तथा धन आदि का अपहरण करने का विचार होना।

१२ ,, मणे भूओवघाइए-मन मे प्राणियो को पीडा देने का विचार होना भूतोपघातिक मन है। [मन को ऐसी (उपर्युक्त) प्रवृत्ति मे नही जाने देना चाहिये। क्योकि ऐसा, मन असयत मन होता है जिस से कर्म का बन्ध होता है अत 'मणो णो पहारेज्ज' मन को प्रवर्त्त न होने देना चाहिए।]

---

[1]सावद्यक, सक्रिय, सकर्कश, कटु, निष्ठुर, परुष, आस्रवकारि, छेदकारि भेदकारि, परितापनकारि, उपक्लेश या उपद्रवकारि, भूतोपघातिक।

प्रशस्त विनय १२ प्रकार का है—

१. मन का सावद्यकारि न होना। †
२. मन का क्रियाकारी न होना।
३. मन का कर्कश न होना।
४. मन का कटु न होना।
५. मन का निष्ठुर न होना।
६. मन का परुष न होना।
७. मन का अशुभ आश्रवकारि न होना।
८. मन का छेदकारि न होना।
९. मन का भेदकारि न होना।
१०. मन का परितापक न होना।
११. मन का उपक्लेश या उपद्रवकारि न होना।
१२. मन का भूतोपघातिक–प्राणी-पीड़क न होना।

[औप० तप०]

अप्रशस्त वचन के १२ भेद—

१ सावद्यक वचन	७ आश्रवमय वचन
२ सक्रिय वचन	८ छेदकारि वचन
३ कर्कश वचन	९ भेदकारि वचन
४ कटु वचन	१० परितापक वचन
५ निष्ठुर वचन	११ उपद्रवकारि वचन
६ परुष वचन	१२ प्राणी-पीड़क वचन।

†जिन मणे समावज्जे आदि।

[अप्रशस्त मन विनय की भांति ही इन का अर्थ जानना चाहिए।]

प्रशस्त वचन के १२ भेद—

१ असावद्यक वचन	७ अनाश्रवी वचन,
२ अक्रिय वचन	८ अछेदनकारि वचन,
३ अकर्कश वचन	९ अभेदनकारि वचन,
४ मधुर वचन	१० अपरितापक वचन
५ अनिष्ठुर (नम्र) वचन	११ अनुपद्रवकारि वचन,
६ अपरुष (स्नेह) वचन	१२ अभूतोपघातिक वचन।

[औप० तपाधिकार]

प्रशस्त काय विनय के सात भेद—

१ उपयोग पूर्वक चलना २ उपयोग पूर्वक खड़े रहना
३ उपयोग पूर्वक बैठना ४ उपयोग पूर्वक सोना
५ उपयोग पूर्वक किसी वस्तु का उल्लंघन करना
६ उपयोग पूर्वक ही प्रलंघन करना (वापिस आना)
७ इन्द्रियों को विषयादि से बचाना।

[उपर्युक्त क्रियाए हिंसादि कर्म से आत्मा को विलग रखती हैं तथा निर्जरा एव संवर मे सहायक होती है। "उपयोगे धर्म." कहकर शास्त्रकारो ने मानसिक, वाचिक तथा कायिक योगो की प्रवृति पर ही कर्म के अनुवन्ध एव मुक्ति का रूप स्थिर किया है। किन्तु इस मे विपरीत अप्रशस्त मन, वचन एव काया आश्रव रूप होते हैं जो कर्म बन्ध के कारण भूत है।]

अप्रशस्त काय विनय के सात भेद—

१–७ बिना उपयोग चलना.........इन्द्रियों का विषयों में प्रवृत होना।

लोकोपचार विनय के सात भेद—

१. गुरूजनों के निकट रहना।
२. उन की इच्छानुसार अनुसरण करना।
३. पूर्व उपकार को मान कर कार्य करना।
४. ज्ञान आदि के फल की इच्छा से आचार्य आदि का कार्य करना।
५. दुखी-रोगादि से पीड़ित की सेवा का विचार रखना।
६. देश काल का ज्ञान रखना।
७. सर्व अर्थों में अनुकूल रहना।

[लोक व्यवहार के अनुकूल व्यवहार करना लोकोपचार विनय है। अथवा यो कहें कि गुरूजनो के प्रति शिष्ट व्यवहार (शिष्टाचार) ही लोकोपचार विनय है। अर्थात्

जो अपने से सद्गुणो मे श्रेष्ठ हो उस के साथ योग्य एव उचित व्यवहार करना ही लोकोपचार विनय है।]

वैयावृत्य तप

वैयावृत्य के १० भेद—

१ आचार्य की वैयावृत्य करना।

---

१ अभ्यासासन २ छंदोनुवर्तन ३ [illegible] ४ कृत प्रतिक्रिया ५ आर्त गवेषणा ६ देश कालज्ञता ७ सर्व अर्थानुमति।

२ उपाध्याय की वैयावृत्य करना।

३ स्थविर की वैयावृत्य करना।

४ कुल की वैयावृत्य करना।

५ गण की वैयावृत्य करना।

६ संघ की वैयावृत्य करना।

७ नये दीक्षित की वैयावृत्य करना।

८ रोगी की वैयावृत्य करना।

९ तपस्वी की वैयावृत्य करना।

१० स्वधर्मी की वैयावृत्य करना।

स्वाध्याय तप

स्वाध्याय के पाँच भेद—

१ वाचना २ परिपृच्छना

३ परिवर्तना ४ अनुप्रेक्षा

५ धर्मकथा।

ध्यान तप

ध्यान के ४ भेद—

१ आर्त्तध्यान २ रौद्रध्यान

३ धर्मध्यान ४ शुक्लध्यान।

आर्तध्यान के आठ भेद—४ पाए ४ लक्षण।

चार पाए—

१ अमनोगम शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श का वियोग चाहना।

२ मनोगम शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श का संयोग चाहना।
३ रोगादिक कष्टों से (आकुल-व्याकुल) अधीर होकर उनका वियोग चाहना।
४ काम भोग का संयोग चाहना।

चार लक्षण—

१ कंदणिया—आक्रन्दन, गद् गद् स्वर से आँसू बहाना, रोना।
२ सोयणिया—सोच—फिकर मे लीन होना।
३ तिप्पनिया—आसुओ का गिराना।
४ विलवणया—रोने के साथ मस्तक, सिर, छाती आदि पीटना।

रौद्रध्यान के ८ भेद—४ पाए ४ लक्षण।

चार पाए—

१ हिंसानुवन्धी—हिंसा करने मे प्रसन्न रहना।
२ मृषानुवन्धी—झूठ बोलने मे प्रसन्न रहना।
३ स्तेनानुवन्धी—चोरी करने मे खुश रहना।
४ संरक्षणानुवन्धी—विषय सरक्षण का चिन्तन करना।

चार लक्षण—

१ ओसन्नदोष—थोड़ी सी बात पर बहुत रोष करना।
२ बाहुल्यदोष—हिंसा आदि अनेक दोषो का होना।
३ अज्ञान दोष—अज्ञान के वश मे हो कर हिंसादि दोष करना।
४ आमरणान्तदोष—मरणपर्यन्त हिंसादि दोष न छोडना।

धर्मध्यान के १६ भेद—४ पाये ४लक्षण ४आलंबन ४ अनुप्रेक्षा।

चार पाये—

१ आज्ञाविचय—वीतराग देव की आज्ञा का चिन्तन कि सर्वज्ञ की आज्ञा क्या है और कैसी होनी चाहिए।

२ अपायविचय—कर्म के स्वरूप और उससे मुक्ति का चिन्तन।

३ विपाक विचय—कर्मविपाक-फल का चिन्तन करना।

४ संस्थान विचय—लोक के स्वरूप का चिन्तन।

चार लक्षण—

१ आज्ञारुचि—आज्ञा पालन में रुचि रखना।

२ निसर्ग रुचि—जाति स्मरण आदि ज्ञान से धर्म की रुचि होना।

३ उपदेश रुचि—उपदेश सुनने से धर्म की रुचि होना।

४ सूत्र रुचि—शास्त्र पढ़ने से धर्म की रुचि होना। आगम श्रद्धा,

चार आलंबन—

१ वाचना—शास्त्र पढना, पढाना।

२ पृच्छना—प्रश्नादि पूछना।

३ परावर्तना—पहले पढे हुए ज्ञान की आवृत्ति। (बार बार पढना)

४ धर्मकथा—धर्म का कथन करना।

चार अनुप्रेक्षा—

१ एकत्वानुप्रेक्षा—जीव अकेला आया अकेला जाएगा ऐसा विचार करना।

२ अनित्यानुप्रेक्षा—सर्व पदार्थ अनित्य अध्रुव है।

३ अशरणानुप्रेक्षा—अन्त मे धर्म बिना और कोई शरण नही।

४ संसारानुप्रेक्षा—स्वकर्मानुसार ही सब जीव ससार मे परिभ्रमण करते हैं ऐसा चिन्तन करना।*

शुक्लध्यान के १६ भेद—४पाये ४लक्षण ४आलवन ४अनुप्रेक्षा।

चार पाये—†

१ पृथक्त्व वितर्क सविचारि २ एकान्त वितर्क अविचारी
३ सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ४ समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति

चार लक्षण—

१ अभय, २ असंमोह, ३ विवेक, ४ व्युत्सर्ग।

चार आलवन—

१ क्षमा, २ मुक्ति, ३ ऋजुता, ४ मृदुता।

चार अनुप्रेक्षा—

१ ‡ अनित्यानुप्रेक्षा—ससार की अनित्यता का चिन्तन करना।
२ विपरिणामानुप्रेक्षा ससार की प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है. ऐसा चिन्तन करना।
३ अशुभानुप्रेक्षा—कर्मों का फल अशुभ है, ऐसा चिन्तन करना।
४ अपायानुप्रेक्षा—आत्मा अखण्ड है, वह नष्ट नही हो सकती ऐसा चिन्तन करना।

[पाये से तात्पर्य प्रकार से है कि आर्त्तध्यान अमुक प्रकार ा है तथा लक्षण उस ध्यान के स्वामी और ध्यान का परिचायक है कि अमुक लक्षण पाये जाये तो अमुक ध्यान है। आलवन से

†इनके अर्थ देखो परिभाषा में। *संवर तत्त्व में इनका अर्थ देखें।
‡स्थानांग सूत्र में इसके स्थान पर 'अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा' है अर्थात् संसार अनन्त है ऐसा चिन्तन।

अभिप्राय आधार से है जिस से उस चिन्तन की वृद्धि हो, और अनुप्रेक्षा का अर्थ है मन को चिन्तन मे लगाना' इन सब को मिलाने पर ध्यान स्थिर होता है।

व्युत्सर्ग तप

व्युत्सर्ग तप के २ भेद—

१ द्रव्य व्युत्सर्ग २ भाव व्युत्सर्ग।

द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद—

१ शरीर व्युत्सर्ग २ उपधि व्युत्सर्ग

३ गण व्युत्सर्ग ४ भक्तपान व्युत्सर्ग

भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद—

१ संसार व्युत्सर्ग २ कर्म व्युत्सर्ग ३ कषाय व्युत्सर्ग।

[स्था० औप० भ०]

कषाय व्युत्सर्ग के चार भेद—

१ क्रोध कषाय व्युत्सर्ग २ मान कषाय व्युत्सर्ग

३ माया कषाय व्युत्सर्ग ४ लोभ कषाय व्युत्सर्ग।

संसार व्युत्सर्ग के चार भेद—

१ नैरयिक संसार वि० २ तिर्यञ्च-संसार वि०

३ मनुष्य संसार वि० ४ देव संसार व्युत्सर्ग।

कर्म व्युत्सर्ग के आठ भेद—

१ ज्ञानावरणीय कर्म संसार व्युत्सर्ग,

२ दर्शनावरणीय कर्म आदि १—८ तक।

परिभाषा

तत्त्वदर्शियो ने आत्मा के मलिन एव निर्मल होने के कारणो पर अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार किया है। और इन विचारो को हमारे सामने उपदेशात्क रूप में नाना प्रकार से रक्खा है। सक्षेप मे आत्म-शुद्धि तथा मलीनीकरण के दो कारण प्रतीत होते है—वासना और त्याग। वासना अनेको पापो को जन्म देती है, दुष्ट कर्म उत्पन्न होते हैं तो त्याग उन सवको नष्ट कर देता है। वास्तव मे कर्म मल की सानिध्यता ही आत्म-मलिनता है, और उस की दूरी ही आत्म-निर्मलता है। तथापि कारण कार्य भेद व अनुष्ठान भेद मे यह अनेक प्रकार की है।

प्रस्तुत निर्जरा तत्त्व मे उन अनुष्ठानो का ही वर्णन है जिनके आचरण से कर्मों की निर्जरा—आत्मा पर रहे शुभाशुभ कर्मो एक देशत भिन्न होना, होती है। हा, तो वारह प्रकार के तप से निर्जरा होती है अत. तप ही निर्जरा है।* आत्मा से अश रूप मे कर्मो का अलग होना निर्जरा और सर्वरूप मे अलग हो जाना मोक्ष है।

तप क्या है ?

इच्छाओ-वासनाओ का निरोध तप है। "इच्छा निरोधस्तपो" अथवा "वासनाओ को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक वल की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन उपायो से तपाया जाता है वे सभी तप हैं।"

तप का फल क्या है ?

*"वारसविंह तवो निज्जरा य"—नवतत्व। तवसा धुणइ पुराण-पावग"

तप पुरातन—पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करता है, कोटि भव सञ्चित कर्म तप द्वारा निर्जरण होते है। अर्थात् पुराने कर्म नष्ट होते है आत्मा निष्काम बनता है तो फिर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण स्थिति को प्राप्त हो जाता है। †

तप क्रिया भेद से दो प्रकार का है—बाह्य, आभ्यन्तर।

जिस मे शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है, तथा जो बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा रखता हो और जो दूसरो को दिखाई दे सके वह बाह्य तप है।

जिस मे मानसिक क्रिया की प्रधानता हो, तथा जो मुख्य रूप से बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरो को न भी दिखाई दे सके वह आभ्यन्तर तप है।

बाह्य तप आभ्यन्तर तप की पुष्टि करने वाला है और आभ्यन्तर कर्मो को समूल नष्ट करने मे, आभ्यन्तर तप के अभाव मे बाह्य तप से कभी २ आत्मा कर्म मल से युक्त भी रह जाता है, अर्थात् निर्जरा नही हो पाती यदि हो जाती है तो पुनः कर्मो का बन्ध हो जाता है, क्योकि मानसिक वृत्तियो का निरोध, प्रशस्त रूप मे नही होती। जब कि आभ्यन्तर तप उन्हें प्रशस्त बनाता है। तप का वर्गीकरण इसी उद्देश्य से (शारीरिक व मानसिक सम्बन्ध) ही किया गया है। ये एक दूसरे के पूरक है।

तपो की परिभाषा—

अनशन—"मर्यादित समय तक या जीवन के अंत तक सभी प्रकार के आहार का त्याग करना।" अर्थात् थोड़े समय के लिए या उम्र भर तक आहार का त्याग करना अनशन है। उपवास आदि इसी के भेद हैं।

† उत्तराध्ययन ३६ "भवकोडी सञ्चियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ"

ऊनोदरी—भूख से कम आहार करना। इसका दूसरा नाम अवमौदार्य है

भिक्षाचर्या—पदार्थ मूर्च्छा को त्याग कर शुद्ध ऐषणीय आहारादि करना और उस आहार को भी अभिग्रह आदि से दुर्लभ्य बनाना भिक्षाचर्या है। वृत्ति सक्षेप इस का पर्यायवाची है। विविध वस्तुओ के लालच को कम करना या जीवन निर्वाह की चीजो, आवश्यक वस्तुओ मे भी कमी करना वृत्ति सक्षेप है।

रसपरित्याग—घी, मक्खन, मद्य आदि कामोत्तेजक रसो का त्याग।

प्रतिसंलीनता—ज्ञान, दर्शन चरित्र मे आत्मा को सलीन करने के लिए क्रोधादि, विषयादि तथा विकारोत्पन्न करने वाले ससर्गो से परे रखना, दूर हटाना।

काय क्लेश—नियम-उपनियमो के पालन से होने वाला शारीरिक कष्ट। अथवा शरीर को साधना के लिए अभ्यस्त बनाने या साधना मे लगाने के लिए कायोत्सर्ग, वीरासन आदि आसन, गर्मी-सर्दी आदि सहने मे होने वाली पीड़ा काय-क्लेश तप है।

प्रायश्चित—धारण किये हुए नियमो, व्रतो मे प्रमादादि से लगे हुए दोषो की जिस से शुद्धि की जाए वह प्रायश्चित है।

विनय—ज्ञान आदि गुणो के प्रति बहुमान और देव गुरु आदि पूज्यवर्ग का आदर-सत्कार एव सतुष्ट रखना विनय तप है।

वैयावृत्य—गुरुजनो आदि की स्वय अथवा अन्य साधनों द्वारा सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है।

स्वाध्याय—ज्ञान प्राप्ति के लिए अध्यय-शास्त्रादि पढना-पढाना स्वाध्याय तप है।

व्युत्सर्ग—देहादि पर से ममता तथा ज्ञानादि साधनों पर से अहभाव त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान—चित्त वृत्तियो का निरोध करना अथवा चचल मन को स्थिर करने के लिए किसी पद का अवलम्बन ले मानसिक वृत्तियों को केन्द्रित करना ध्यान है।

इत्वरिक—थोडे समय के लिए किया गया आहार का त्याग इत्वरिक अनशन कहलाता है।

यावत्कथिक—यावज्जीवन, जीवन भर (जब तक जीवित रहे) तक आहार त्याग करना यावत्कथिक है।

श्रेणी तप—पक्ति बद्ध वस्तु को श्रेणी कहते है।

प्रतर—श्रेणी को श्रेणी से गुणा करने पर प्रतर होता है।

घन—प्रतर को श्रेणी से गुना करने पर घन होता है।

वर्ग—घन को घन से गुना करने पर वर्ग होता है।

वर्गावर्ग-वर्ग को वर्ग से गुणा करने पर वर्गावर्ग कहलाता है।

प्रकीर्ण—श्रेणी एव अनुक्रम के बिना ही फुटकर रीति से किया जाने वाला तप।

भक्त प्रत्याख्यान मरण—जिस मे केवल आहार का ही त्याग हो किन्तु शरीर की चेष्टा का त्याग नही हो।

पादोपगमन मरण—छिन्न—कटे हुए, वृक्ष की तरह अत्यन्त निश्चेष्ट रह अन्त करण समाधि पूर्वक मरना।

इंगिनी मरण—अमुक नियत प्रदेश मे शरीर चेष्टा का आगार (छूट) रख कर, शरीर सेवा का त्याग कर, मृत्यु वेला तक चार प्रकार के

आहार का त्याग कर मरना, इंगिनी मरण है।

(जैसे दो का अंक यह श्रेणी है इसको दो से गुणा करने पर चार यह प्रतर है चार को दो से गुना करने पर आठ यह घन है, आठ को आठ से गुना करने से ६४ यह वर्ग और उस को फिर वर्ग से गुना करो तो वर्गावर्ग है।)

(समान जाति के अंक तीन बार गुनने से जो अंक आता है उसे घन कहते है, जैसे दो का घन आठ, तीन का सताईस, चार का चौसठ आदि।

२×२=४×२=८, इसी प्रकार प्रतर व श्रेणी को गुणा करने से घन होना है। उदाहरण—चार कोष्ठक की श्रेणी हो तो सोलह कोष्ठक का प्रतर और प्रतर को चार (श्रेणी) से गुनने से चौसठ कोष्ठक होते है यह घन तप है।)

इसी प्रकार श्रेणी आदि में जितने कोष्ठक हों उतने कोष्ठक का तप श्रेणी प्रतर, घन आदि तप कहा जाता है। यहा श्रेणी चार कोष्ठक की है जैसे—१।२। ३।४ इन कोष्ठकों को गुणा करने से सोलह कोष्ठक होते है—

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

झंझा—अविद्यमान कलह, चित्त मे रही अशान्ति।

आलोचना—गुरू आदि गीतार्थ के समक्ष अपने दोषो, अपनी भूल का प्रकट करना आलोचना है।

प्रतिक्रमण—जो भूल हो चुकी है, उस का अनुताप कर के उससे निवृत—दूर रहना और नई भूल न हो इस के लिए सावधान रहना प्रतिक्रमण है। अर्थात् कृत पाप से पीछे हटना प्रतिक्रमण है।

तदुभय—उक्त आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो साथ करना तदुभय है।

विवेक—आहारादि कोई वस्तु अकल्पनीय, अनेषणीय आ जाय और बाद मे उस का पता चले कि यह अकल्प्य है तो उस का त्याग करना विवेक है।

व्युत्सर्ग—का अर्थ है विशेष रूप से त्याग, अर्थात् एकाग्रता पूर्वक शरीर और वचन के व्यापार (योग) को छोड़ देना व्युत्सर्ग है।

तप—अनशन आदि तप का आचरण करना तप है।

छेद—दोष के अनुसार दिन, पक्ष, मास अथवा वर्ष की प्रव्रज्या दीक्षा कम कर देना छेद है।

मूल—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतो के भग हो जाने पर पुन महाव्रतो का आरोपण मूल प्रायश्चित है।

अनवस्थाप्य—वह प्रायश्चित जिस मे दोषी साधु को कुछ समय बिना व्रत के रख कर पुन व्रतो का आरोपण किया जाता है।

पारांचिक—वह जिस मे अमुक समय तक गृहस्थ के वस्त्र पहना कर रखना, उस के बाद पुन. व्रती बनाना।

[ये भूल-दोष के सुधारने के उपाय हैं अत प्रायश्चित (रूप) है। इन से आत्मा तपती है, मल दूर होता है अत. तप रूप है। कहाँ किसे और कौनसा प्रायश्चित दिया जाता है, यह शास्त्रो से जानना चाहिये।]

आचार्य—मुख्य रूप से जिन का कार्य व्रत और आचार ग्रहण कराने का है—वह आचार्य हैं, शासनेश, मुनि मडल के अधिपति।

उपाध्याय—जो विशेष रूप से श्रुत—शास्त्र, ज्ञान का अभ्यास करावे

उपाध्याय है।

तपस्वी—जो उग्र तप का आचरण करने वाला हो।

स्थविर—वयोवृद्ध, जो चरित्र मे स्थिर कर देवे स्थविर कहलाते है

शैक्ष—जो नव दीक्षित हो कर शिक्षण प्राप्त करने का उम्मीदवार हो शैक्ष कहलाता है।

ग्लान—रोग आदि मे जो क्षीण-दुर्बल हो वह ग्लान है।

कुल—एक ही दीक्षाचार्य (गुरू) का शिष्यपरिवार कुल है।

गण—भिन्न २ आचार्यो के शिष्य आदि परस्पर साध्यायी होने से समान वाचना वाले हो तो गण कहलाता है।

संघ—धर्म का अनुयायी सघ है। अर्थात् एक परम्परा, गुण की अराधना वाले व्यक्तियो का समुदाय संघ है।

सधार्मिक—साभोगिक, ज्ञान, आचरण आदि गुणो मे जो समान हो वह सधार्मिक है।

वाचना—गुरु आदि से शब्द या अर्थ का पाठ लेना वाचना है।

पृच्छना—शंका दूर करने या विशेष निर्णय के लिए पूछना पृच्छना है।

परावर्तना—सीखे हुए पाठ का शुद्धि पूर्वक पुन. उच्चारण परावर्तना है।

अनुप्रेक्षा—शब्द पाठ या अर्थ का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

धर्मकथा—जानी हुई वस्तु का रहस्य दूसरे को समझाना अथवा धर्म का कथन करना धर्म कथा है।

पृथक्त्ववितर्क सविचार—द्रव्य, गुण और पर्याय की जुदाई को पृथक्त्व

कहते है। अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभवरूप भावश्रुत, वितर्क कहलाता है और मन, वचन और काय इन तीन योगो मे से एक योग ग्रहण कर दूसरे मे सक्रमण करना विचार कहलाता है।

एकत्ववितर्कअविचार—आत्म द्रव्य मे या उसके विकार रहित सुख के अनुभवरूप पर्याय मे या निरुपाधि ज्ञानारूप गुण मे आत्मानुभव रूप भावश्रुत के वल से स्थिर होकर द्रव्य, गुण और पर्यायो का विचार करना, उसे एकत्व वितर्क अविचार कहते है।

सूक्ष्मक्रियाअप्रिपाति—तेरहवे गुणस्थान के अन्त मे मनोयोग और वचनयोग रोकने के बाद काययोग रोकने मे प्रवृत्त होना, उसे सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति कहते है।

समुछिन्नक्रिया अनिवृत्ति—तीनो योगो का अभाव होने पर फिर च्युत न होने वाला, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख का एक रस अनुभव करना उसे समुछिन्न क्रिया अनिवृत्ति कहते हैं।

उक्त सभी निर्जरा के कारण है अत स्वय निर्जरा के भेद हैं। निर्जरा का अर्थ है भव-भ्रमण के कारण रूप कर्मो का जीर्ण-जर्जर हो जाना—"ससार वीज भूतानाकर्म्मण जरणादिह निर्जरा सा स्मृता द्वधा सकामा काम वर्जिता," और यह दो प्रकार की है, सकाम और अकाम। सकाम से अभिप्राय है काम सहित अर्थात् "अमुक अनुष्ठान से कर्म क्षय होगें,, इस प्रकार विचार कर उस के लिए अनुष्ठान करना और उस से होने वाली निर्जरा सकाम निर्जरा है। सम्यग्दृष्टि जीव की निर्जरा सकाम निर्जरा कहलाती है। तथा मिथ्यादृष्टि की निर्जरा अकाम निर्जरा अथवा निर्जरा के लिए किसी प्रकार का अनुष्ठान न करने पर भी देह, मन आदि को विवशता पूर्वक

"अथवा नितरामनिश्शेषेन जीर्य्यन्ते, क्षीयन्ते कर्माणि यया सा निर्जरा।"

रोकने से होने वाली निर्जरा अकाम निर्जरा कहलाती है।

यू तो प्रत्येक जीव क्षण २ मे कर्म का बन्ध, अनुभव और निर्जरा करता ही रहता है किन्तु सम्यग् अनुष्ठान से पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा होती है और नवीन कर्मों का बन्ध स्वल्प मात्रा मे होता है और वह भी शुभ का। किन्तु मिथ्याक्रियानुष्ठान से कर्मों की निर्जरा तो स्वल्प मात्रा मे होती है और कर्मो का बध प्रचुर होता है यही कारण है कि जीव शीघ्रतया कर्मो से अलिप्त नही होता और भव-भ्रमण करता रहता है।

द्रव्य-भाव भेद से निर्जरा पुन दो प्रकार की हैं। कर्मपुद्गलो का आत्म-प्रदेशो से देश रूप मे निर्जरण होना द्रव्य निर्जरा है तथा द्रव्य निर्जरा मे कारण भूत आत्मा के शुभ–शुद्ध अध्यवसाय–परिणाम ही भाव निर्जरा हैं।

सवर नवीन कर्मो का निरोधक है किन्तु सवर ही मुक्ति के लिए पर्याप्त नही, क्योकि सवरावस्था से पहले जो आश्रव रूप मे कर्म आ चुके है उन्हे तो क्रियानुष्ठान ही नष्ट कर सकते है अत निर्जरा मोक्ष के लिए अनिवार्य है। उदाहरणत एक नौका है, उस मे छिद्र होने से पानी भर आया है, यह आश्रव है, छिद्रों को वन्द करके पानी को रोकना, यह क्रिया सवर है। तथा आये हुए पानी को उलीच कर बाहर निकालना ही निर्जरा है। क्यो की बिना इस के नौका भारी ही रहेगी इसी प्रकार आत्मा भी कर्मो के रहते हुए मुक्त नही हो सकता।

वन्ध तत्त्व

आठवाँ

प्रश्न - वन्ध किसे कहते है ?

उत्तर—कर्म पुद्गलो और आत्मा का परस्पर नीर-क्षीरवत् सम्वन्ध वन्ध कहलाता है। अथवा शुभ-अशुभ योगो तथा कषाय आदि परिणामो द्वारा कर्म वर्गणाओ—कर्म-समूह का आत्म-प्रदेशो पर इलायची दानो पर चीनी की चासनी की भाति जमा हो जाना, चढ जाना ही वन्ध तत्त्व है। *Bondage.

वन्ध के चार भेद है—

१ प्रकृति वन्ध
२ प्रदेश वन्ध
३ स्थिति वन्ध
४ अनुभाग वन्ध

प्रकृति वन्ध

जीव द्वारा ग्रहण किये गये कर्म पुद्गलो मे अच्छे-बुरे विभिन्न स्वभावो का उत्पन्न होना प्रकृति-वन्ध (Nature of karma) है। जैसे, ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि। इन कर्माणुओ का स्वभाव १४८ प्रकार का है अर्थात् आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियां है।

*A harmonious mingling of the soul particules and the molecules of karmas

१ ज्ञानावरण कर्म की पाच प्रकृतियाँ—

१ मति ज्ञानावरणीय ३ अवधिज्ञानावरणीय

२ श्रुत ज्ञानावरणीय ४ मनःपर्यव ज्ञानावरणीय

५ केवल ज्ञानावरणीय

२ दर्शनावरण कर्म की नव प्रकृतिया—

१ चक्षुःदर्शनावरणीय ५ निद्रा

२ अचक्षुःदर्शनावरणीय ६ निद्रा-निद्रा

३ अवधि दर्शनावरणीय ७ प्रचला

४ केवल दर्शनावरणीय ८ प्रचला प्रचला

९ स्त्यनगृद्धिका

३ वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ—

१ सातावेदनीय २ असातावेदनीय।

४ मोहनीय कर्म के दो भेद है—चरित्र मोहनीय और दर्शन मोहनीय। चारित्र मोह कर्म की २५ प्रकृतिया है और दर्शन मोह कर्म की तीन प्रकृतिया है।

चारित्र मोहनीय कर्म की २५ प्रकृतिए है—†सोलह कषाय, नव नोकषाय।

दर्शन मोहनीय कर्म की ३ प्रकृतिया—

१ मिथ्यात्व मोहनीय २ सम्यक्त्व मोहनीय

३ मिश्र मोहनीय

---

†देखें पृष्ठ ६२ पर।

५ आयु कर्म की चार प्रकृतिया—

१ नरकायु ३ मनुष्यायु

२ तिर्यञ्चायु ४ देवायु

६ नाम कर्म की ९३ प्रकृतियाँ—गतिनाम, जातिनाम कर्म आदि ३७ पुण्य-तत्त्व मे और ३४ पाप-तत्त्व मे आ चुकी है। तथा शेष २२ प्रकृतिए निम्न है।

बन्धन नाम कर्म के पाच भेद—

१ औदारिक बन्धन २ वैक्रिय बन्धन ३ आहारक बन्धन ४ तैजस बन्धन और कार्मण बन्धन।

सघातन नाम कर्म के पाच भेद—

१ औदारिक संघातन २ वैक्रिय संघातन ३ आहारक संघातन ४ तैजस संघातन और कार्मण संघातन।

वर्ण नाम कर्म के पाच भेद—

कृष्ण वर्ण, नील वर्ण, पीत वर्ण, रक्त वर्ण और श्वेत वर्ण।

गन्ध नाम कर्म के दो भेद—

सुरभिगन्ध, दुरभिगन्ध

रस नाम कर्म के भेद—

कटु रस, कषाय रस, आम्ल रस, मिष्ट रस और तिक्त रस

स्पर्श नाम कर्म के ८ भेद—

१ कर्कश २ नम्र ३ लघु ४ गुरु ५ तप्त ६ शीत ७ रूक्ष ८ स्निग्ध।

वर्णादि कर्म मे से आठ भेद (चार शुभ चार अशुभ) निकाल

देने पर २२ प्रकृतिया शेष रह जाती है। [३४+३७+२२=९३ प्रकृतिया।]

प्रदेश बन्ध

आत्म-प्रदेशो पर कर्म-प्रदेशो का आकर जमा होना प्रदेश वन्ध है। अथवा कर्म-प्रदेशो का समूह प्रदेश-बन्ध है।"

कर्म पुद्गलो के तीन रूप हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश।

रूपक—जैसे मोतीचूर (बूदी) का मोदक, पूर्ण लड्डू स्कन्ध, लड्डू का एक भाग देश और अविभक्त दाणे प्रदेश कहे जा सकते है। (Quantity of karmic matter.)

स्थिति बन्ध

आत्म-प्रदेशो पर आये हुए कर्मो की वहां रहने की कालावधि—समय स्थिति बन्ध है। अथवा जीव द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गलो का अपने स्वभाव को न छोडते हुए अमुक काल तक जीव के साथ रहने की काल मर्यादा (Duration) स्थिति बन्ध कहलाता है। (Length of duration of karma.)

कर्म स्थिति

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय, इन कर्मो की स्थिति जघन्य अन्तर्मूहूर्त की है, उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडा-कोड सागर है।

इनका †आबाधा काल तीन हजार वर्ष का है।

---

†किसी कर्म के वन्धन काल से उस कर्म के उदय आने-तक में जो मध्य काल (Intervening period) है वह आबाधा काल कहते है। अर्थात् "आबाधा अनुदयकाला" कर्मबन्ध से कर्मोदय तक का समय आबाधा काल है। या (Period of non-fruition)

मोहनीय कर्म को जघन्य स्थिति अन्तमूहूर्त्त की है उत्कृष्ट७० (सत्तर) क्रोडाक्रोड सागर का है।

आवाधा काल सात हजार वर्ष का है।

नाम कर्म और गोत्र कर्म की स्थिति जघन्य आठ मूहूर्त्त तथा उत्कृष्ट (बीस)२० क्रोडाक्रोड सागर की है।

आवाधा काल दो हजार वर्ष का है।

आयुकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मूहूर्त्त की है तथा उत्कृष्ट तेतीस (३३) सागररोपम की होती है।

आवाधा काल आयुष्य कर्म का नही होता।

[उत्त० भगवती ६।३।]

अनुभाग वन्ध

आत्म प्रदेशो पर रहे कर्म-प्रदेशो मे मद या तीव्र फल देनेकी न्यूनाधिक शक्ति को अनुभाग कहते है। इसे अनुभव तथा रस वन्ध भी कहते है। (Intensity of fruition or the intensity of the effect of Karma.)

[ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो का अनुभाग (रस)जीव कषाय परिणाम द्वारा ८५ प्रकार से बन्धन करता है और ९३ (तिरानवें) प्रकार से उसे भोगता (अनुभव)करता है।]

ज्ञानावरणीय कर्म जोव छह प्रकार से वाधता है—

१ ज्ञान तथा ज्ञानवान के प्रतिकूल रहने से।

२ ज्ञान अथवा ज्ञानीके उपकार को छुपा कर रखने से।

३ ज्ञान ,, ज्ञानी के अन्तराय डालने से।

४ ज्ञान ,, ज्ञानीजनो से द्वेष करने से।

५ ज्ञान ,, ज्ञानीजनों की अशातना करने से।

६ ज्ञान ,, ज्ञानीजनों का उपहास-निंदा करने से।

[भगवती ८।९।]

ज्ञानावरणीय कर्म दश प्रकार से जीव अनुभव करता है—

१ श्रोत्रावरण—कान का न होना
२ श्रोत्रविज्ञानावरण—श्रवण शक्ति का न होना
३ नेत्रावरण—नेत्र का न होना
४ नेत्रविज्ञानावरण—दर्शन शक्ति का न होना
५ घ्राणावरण—नासिका का न होना
६ घ्राणविज्ञानावरण—सूंघने की शक्ति न होना
७ रसनावरण—जिह्वा का न होना
८ रसनविज्ञानावरण—चखने की शक्ति का न होना
९ स्पर्शनावरण—स्पर्शन का न होना
१० स्पर्शविज्ञानावरण—स्पर्शन शक्ति का न होना।

(प्रज्ञापना, कर्मबन्ध पद)

दर्शनावरणीय कर्म जीव छह प्रकार से बांधता है—

१ दर्शन अथवा दर्शनी के प्रतिकूल रहने से।†
२ दर्शन ,, दर्शनी की शक्ति को छुपा कर रखने से।

---

†नाण पडिणीययाए, नाण निण्हवणिए, नाणंतराएणं, नाणप्पओसेणं, नाणच्चासायणाए, नाण विसंवायणा जोगेणं।"

*कान आदि का न होना, से तात्पर्य क्षयोपशम भाव से अभिप्राय है। कहीं २ ज्ञानावरण कर्म की पांच प्रकृतियां और श्रोत्रावरण आदि पांच आवरण, ये दश भेद हैं।

३ दर्शन ,, दर्शनी के विघ्न डालने से।
४ दर्शन ,, दर्शनी से द्वेष करने से।
५ दर्शन ,, दर्शनी की अशातना करने से।
६ दर्शन ,, दर्शनी का उपहास, निंदा आदि करने से।
(भगवती ८।९।)

दर्शनावरणीय कर्म ९ प्रकार से भोगा जाता है—

१ चक्षुदर्शनावरण के उदय भाव से।
२ अचक्षुःदर्शनावरण के ,,
३ अवधि दर्शनावरण ,,
४ केवल दर्शनावरण ,,
} दर्शन चतुष्क

१ निद्रा ३ प्रचला
२ निद्रा-निद्रा ४ प्रचला-प्रचला
} निद्रा पचक
५ स्त्यान गृद्धिका

सातावेदनीय कर्म जीव दश प्रकार से बांधता है—

१ प्राणी पर अनुकम्पा करने से।
२ भूत पर अनुकम्पा करने से।
३ जीव पर अनुकम्पा करने से।
४ सत्त्व पर अनुकम्पा करने से।
इन्हें—
५ दुःख न पहुंचाने से।

[illegible]

६ शोक में न डालने से।

७ न झुराने से।

८ आंसू न बहाने से।

६ न रुलाने से।

१० पीड़ा न पहुँचाने से।

सातावेदनीय आठ प्रकार से भोगा जाता है—

१ मनोज्ञ शब्द २ मनोज्ञ रूप ३ मनोज्ञ गन्ध
४ मनोज्ञ रस ५ मनोज्ञ स्पर्श ६ सुख रूप मन
७ सुख रूप वचन ८ सुख रूप काया।

असाता वेदनीय कर्म जीव १२ प्रकार से बाधता है—

१ प्राण-भूत, जीव-सत्त्व को दुख देने से।

२ शोक में डालने से।

३ झूराने से।

४ आंसू बहवाने से।

५ विहनन--मारने से।

६ परिताप—पीडा पहुँचाने से।

७ अधिक प्राण-भूतादि को दुख देने से।

८ शोक में डालने से।

६ झुराने से।

१० आंसू बहवाने से।

११ मारने से ।

१२ पीड़ा पहुँचाने से ।

(भगवती ८।६।)

असातावेदय कर्म का फल आठ प्रकार का है—

१ अमनोज्ञ शब्द	२ अमनोज्ञ रूप	३ अमनोज्ञ रस
४ अमनोज्ञ गन्ध	५ अमनोज्ञ स्पर्श	६ दुखरूप मन
७ दुखरूप वचन	८ दुखरूप काया (की प्राप्ति होती है)	

(प्रज्ञा० कर्मबन्ध पद)

मोहनीय कर्म जीव छह प्रकार से बांधता है—

१ तीव्र क्रोध से	४ तीव्र लोभ से
२ तीव्र मान से	५ तीव्र दर्शन मोह से
३ तीव्र माया से	६ तीव्र चरित्र मोह से

(भगवती ८।६।)

मोहनीय कर्म जीव ५ प्रकार स भोगता है—

१ मिथ्यात्व मोहनीय के उदयभाव से ।

२ मिश्र मोहनीय के ,,

३ सम्यक्त्व मोहनीय ,,

४ कषाय मोहनीय ,,

५ नो कषाय मोहनीय ,,

(प्रज्ञापना कर्मबन्ध पद)

आयु कर्म जीव १६ प्रकार से बाधता है—

चार कारण से नरकायु बन्धती है—

१ महाआरम्भ से

२ महापरिग्रह से

३ अशुद्ध आहार से

४ पंचेन्द्रिय वध से

चार कारण से तिर्यञ्चायु बन्धती है—

१ माया से

२ माया-माया से

३ कूट परिमाण और माप से

४ असत्य बोलने से

चार कारण से देवायु बन्धती है—

१ सराग संयम पालन से

२ संयमासंयम—श्रावक धर्म से

३ बाल तप से

४ अकाम निर्जरा से

चार कारण से मनुष्यायु बन्धती है—

१ प्रकृति से भद्र होने से

२ प्रकृति से विनीत होने से

३ अनुकम्पाशील होने से

४ ईर्ष्या न करने से ।

कर लेता है जिस से उस गतियो मे उत्पन्न होता है।]

आयुष्य कर्म जीव चार प्रकार से भोगता है—

१ नरक गति से २ तिर्यञ्च गति से

३ मनुष्य गति से ४ देव गति से।

(प्रज्ञापना०)

[नाम कर्म जीव आठ प्रकार से बाधता है। इस कर्म के दो भद हैं—शुभ नाम कर्म, अशुभ नाम कर्म।]

शुभ नाम कर्म चार प्रकार से बन्धता है—

१ काया की सरल प्रवृति से*

२ भावों की सरलता से।

३ भाषा की सरलता से।

४ मन आदि योगों की समता से।

(भगवती ८।६।)

शुभ नाम कर्म चौदह प्रकार से भोगा जाता है—

१ इष्ट शब्द २ इष्ट रूप

३ इष्ट गंध ४ इष्ट रस

५ इष्ट स्पर्श ६ इष्ट गति

७ इष्ट स्थिति ८ इष्ट लावण्य

[भद्रता, विनम्रता, सानुक्रोश, अमात्सर्य।

*"काय उज्जुययाए, भाव उज्जुययाए, भासा उज्जुययाए, अविसंवायणा जोगं।"

९ इष्ट यशो कीर्ति	१० इष्ट उत्थान आदि †
११ इष्ट स्वर	१२ कान्त स्वर
१३ प्रिय स्वर	१४ मनोज्ञ स्वर ।

(प्रज्ञापना, कर्म वन्ध०)

अशुभ नाम कर्म चार प्रकार से वाधता है—

१ काया की कुटिल प्रवृति से*

२ भावों की कुटिलता से

३ भाषा की कुटिलता से

४ योगों की विषमता से ।

(भगवती ८।९।)

अशुभ नाम कर्म १४ प्रकार से भोगा जाता है—

१ अनिष्ट शब्द	२ अनिष्ट रूप
३ अनिष्ट गंध	४ अनिष्ट रस आदि

(पूर्वोक्त)

[प्रज्ञापना, कर्म वन्ध पद]

[गोत्र कर्म जीव सोलह प्रकार से वाधता है। यह कर्म दो प्रकार का है, उच्च गोत्र, नीच गोत्र ।]

उच्च गोत्र कर्म आठ प्रकार से वधता है—

१ जाति मद न करने से

२ कुल मद न करने से

३ वल मद न करने से

†कर्म, वल, वीर्य पुरुषकार, *"काय अणुज्जययाए आदि ।"

४ रूप मद न करने से

५ तप मद न करने से

६ लाभ का मद न करने से

७ सूत्र (विद्या) मद न करने से

८ ऐश्वर्य पर मद न करने से

[भगवती/८/६]

उच्च गोत्र कर्म आठ प्रकार से भोगा जाता है।

१ श्रेष्ठ जाति २ श्रेष्ठ कुल ३ श्रेष्ठ बल

४ श्रेष्ठ रूप ५ श्रेष्ठ तप ६ श्रेष्ठ लाभ

७ श्रेष्ठ ज्ञान ८ श्रेष्ठ ऐश्वर्य को जीव प्राप्त करता है

[प्रज्ञापना, कर्मबन्धपद]

नीच गोत्र कर्म भी आठ प्रकार से बधता है—

१ जाति मद से २ कुल मद से

३ बल मद से ४ रूप मद से

५ तप मद से ६ लाभ मद से

७ ज्ञान मद से ८ ऐश्वर्य मद से

[भगवती ८/६]

[अर्थात् इन पर मद—अहकार करने से जीव नीच गोत्र कर्म का बन्धन करता है।]

नीच गोत्र कर्म भी आठ प्रकार से ही भोगा जाता है—

१ जाति हीन होना २ कुल हीन होना

३ वल हीन होना　　४ रूप हीन होना
५ तप हीन होना　　६ लाभ हीन होना
७ ज्ञान हीन होना　　८ ऐश्वर्य हीन होना

[अर्थात् जाति आदि पर अभिमान करने वाला जीव जाति आदि से हीन होता है।]

अन्तराय कर्म पाच प्रकार से वधता है—

१ दान में अन्तराय डालने से।
२ लाभ में अन्तराय डालने से।
३ वस्तु भोग में अन्तराय डालने से।
४ उपभोग में अन्तराय डालने से
५ वीर्य—शक्ति में अन्तराय डालने से

[भगवती ८/९]

अन्तराय कर्म पाच प्रकार से ही भोगा जाता है—

१ दानान्तराय से　　२ लाभान्तराय से
३ भोगान्तराय से　　४ उपभोगान्तराय से
५ वीर्यान्तराय से

[प्रज्ञापना, कर्मवन्ध पद]

परिभाषा

पूर्व प्रकरण मे निर्जरा का उल्लेख हुआ है किन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे यह स्पष्ट हुआ है कि वह निर्जरा किस की है अर्थात् पूर्ववद्ध कर्मों की निर्जरा होती है और वे कर्म कैसे वन्धते हैं, उनका

विस्तार पूर्वक वर्णन है। हाँ, तो मन आदि योगो की प्रवृत्ति से कर्मो का आत्मा की ओर जो आकर्षण है आश्रव है तथा उन का आत्मा के साथ स्थित हो जाना वन्ध है।

शास्त्रकारो ने निरूपण किया है कि कर्म मूर्त्त है और आत्मा अरूपी है फिर भी पूर्व कर्म वद्ध होने से आत्मा भी मूर्त्त है क्यो कि आत्मा और कर्म का सम्वन्ध अनादि है, जिस प्रकार खनिज स्वर्ण का मिट्टी के साथ सम्वन्ध कव से है यह वतलाना कठिन है उसी प्रकार आत्मा के साथ सम्वन्ध पहले कव हुआ यह भी उसी प्रकार है अत दोनो अनादि है। इससे पूर्व आत्मा कर्म से सर्वथा मुक्त नही हुआ यदि हो जाता तो पुन यह अवस्था न होती। अत पूर्व कर्म के कारण ही नवीन कर्म का उद्भव, आविर्भाव सभव है। हा तो कर्म पुद्गल है तो कौनसा पुद्गल है यह स्पष्ट करते हुए वताया है कि सत्ता की दृष्टि से तो पुद्गल एक ही प्रकार का है किन्तु अवस्थादि भेद से छह भागो मे विभक्त है। साधारणतया कोई स्कन्ध वादर, और कोई सूक्ष्म होते है। वादर स्कन्ध इन्द्रिगम्य, और सूक्ष्म इन्द्रिय अगम्य होते हैं।

१ वादर-वादर स्कन्ध—जो टूट कर जुड न सके, लकडी पत्थर।

२ वादर-स्कन्ध—प्रवाही पुद्गल जो टूट कर जुड जाते है।

३ सूक्ष्म-वादर—जो देखने मे स्थूल किन्तु अकाट्य हो, जैसे धूप, प्रकाश आदि।

४ वादर-सूक्ष्म—सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियगम्य हो, जैसे रस, गध, स्पर्श आदि।

५ सूक्ष्म—इन्द्रियों से अगोचर स्कन्ध, यथा—कर्मवर्गणादि।

६ सूक्ष्म-सूक्ष्म—अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध, जैसे—कर्मवर्गणा से नीचे के

द्वयणुक पर्यन्त पुद्गल ।

इन मे से पाँचवाँ प्रकार का जो इन्द्रियो से अगोचर सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध है वह अनन्त-अनन्त परमाणुओ से निर्मित है, तथा कर्म रूप मे परिणत होने की शक्ति रखता है अतः इसे कार्मण वर्गणा कहते है । यह Metter सम्पूर्ण लोकाकाश-प्रदेश मे व्याप्त है । और आत्मा भी इन्ही प्रदेशो मे रहता है अत. आत्म-प्रदेशो मे मन-वचन-काय के सहयोग से जब परिस्पदन होता है तो तत्क्षण ही वह आत्म-प्रदेशो पर आकर जमा हो जाता है । यही बन्ध का स्वरूप है । इस समय मे इन कर्मों मे चार बाते नियत होती है—स्वभाव, काल-मर्यादा परिमाण (तादाद) रस की तरतमता । इसी के आधार पर बन्ध चार प्रकार का है । अथवा

जैसे कोई व्यक्ति अपने शरीर पर तेल लगा कर धूलि मे लेटे, तो धूलि उसके शरीर पर चिपक जाती है । उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय योग आदि से जीव के प्रदेशो मे जब हल चल होती है तब जिस आकाश मे आत्मा के प्रदेश हैं वहीं के अनन्त-अनन्त कर्म योग्य पुद्गल-परमाणु जीव के एक एक प्रदेश के साथ बध जाते हैं । कर्म और आत्म-प्रदेश इस प्रकार मिल जाते है जैसे दूध और पानी तथा आग और लोह पिण्ड परस्पर एक हो कर मिल जाते है । आत्मा के साथ कर्मों का यह जो सम्बन्ध होता है, वही बन्ध कहलाता है ।

यह बन्ध चार प्रकार का है—प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, और अनुभाग । इनका भलीभाँति ज्ञान हो सके अत. शास्त्रकारो ने उदाहरण दिए हैं—

जैसे सोठ, पीपल, मिर्च, आदि से बनाया हुआ मोदक वायु

नाशक होता है । इसी प्रकार पित्त नाशक पदार्थों मे बना हुआ मोदक कफ का नाश करने वाला होता है। इसी प्रकार आत्मा द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म पुद्गलों मे मे किन्ही मे ज्ञान गुण को आच्छादन करनेकी शक्ति पैदा होती है तो किन्ही मे दर्शन गुणको घात करने की । कोई कर्मपुद्गल, आत्मा के आनन्द गुण का घात करते है तो कोई आत्मा की शक्ति का । इस तरह भिन्न-भिन्न कर्म पुद्गलो मे भिन्न २ प्रकार की प्रकृतियो के बन्ध होने को प्रकृति वन्ध कहते हैं ।

२ जैसे कोई मोदक एक सप्ताह, कोई एक पक्ष कोई एक मास तक निज स्वभाव को रखते है. इस के वाद वे छोड देते हैं अर्थात् विकृत हो जाते है। मोदको की काल मर्यादा की तरह कर्मों की भी काल मर्यादा होती है वही वन्ध है। स्थिति पूर्ण होने पर कर्म आत्मा मे अलग हो जाते है ।

३ कोई मोदक रस मे अधिक मधुर होते है तो कोई कम । कोई रस मे अधिक कटु होते है, कोई कम । जिस प्रकार मोदको मे जैसें रसो की न्यूनाधिकता होती है उसी प्रकार कुछ कर्मदलिको मे शुभ रस अधिक और कुछ मे कम । कुछ कर्मदलों मे अशुभ रस अधिक और कुछ मे अशुभ रस कम होता है। इसी प्रकार कर्मों मे तीव्र, तीव्रतर तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम शुभाशुभ रसो का बन्ध होना रस वन्ध है। यही बन्ध अनुभाग वन्ध कहलाता है।

४ कोई मोदक परिमाण मे दो तोले का, कोई पाच तोले का कोई पाव भर का होता है। इसी प्रकार भिन्न २ कर्म दलिको मे परमाणुओ की सख्या का न्यूनाधिक होना प्रदेश वन्व कहलाता है।

अथवा जिस प्रकार गाय घास खाती है. और अपनी औदार्य

यन्त्र प्राणी से उसे दूध के रूप मे परिणत कर देती है। उस दूध मे चार बाते होती है—१ दूध की प्रकृति (मधुरता) २ कालमर्यादा दूध के विकृत न होने की एक अवधि, ३ मधुरता की तरतमता जैसे भैस के दूध की अपेक्षा कम, और बकरी के दूध की अपेक्षा अधिक मधुरता का होना आदि। ४ दूध का परिमाण सेर, दो सेर आदि। इसी प्रकार कर्मों के सम्बन्ध मे उपर्युक्त उदाहरण की तरह जानना चाहिये।

इन चार बन्ध मे से प्रकृति और प्रदेश का योगो के द्वारा बन्ध होता है तथा स्थिति और अनुभाग मे कषायो की अपेक्षा रहती है "जोगा पयडि-पएस, ठिइ अणुभाग कसायओ कुणइ" क्योंकि परिणामो की संक्लिष्टता और असंक्लिष्टता ही तीव्र-मन्द रस और ह्रस्व, दीर्घ काल मर्यादा का सयोजन करती है। मन आदि योग तो मात्र कर्माणुओ को अपनी ओर आकर्षित ही करते हैं किन्तु इन की प्रवृति सोद्देश्य तथा अध्यवसाय द्वारा ही प्रेरित है।

द्रव्य-भाव भेद से बन्ध पुन दो प्रकार का है—कर्माणुओ का आत्म प्रदेशो के साथ नीर-क्षीर वत् जमा हो जाना द्रव्य बन्ध है तथा उस द्रव्य) बन्ध के कारण भूत आत्मा के कषायादि सक्लिष्ट अध्यवसाय—परिणाम ही भाव बन्ध है।

बन्धन के कारण—

सामान्यतया कर्म बन्धन के दो ही मूल कारण है—राग और द्वेष। क्योंकि ये आत्म स्वभाव नही, विभाव है अत. कर्म के बीज है। तथापि पाच कारण माने गये है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय अशुभ योग। ये परिणामो मे कदाग्रह, हिंसा, विषयभावना आदि उत्पन्न करते है और आत्मा मन आदि द्वारा अशुभ प्रवृत्ति करता है

जिस से कर्म का वन्ध होता है। आश्रव के भी ये ही मूल कारण है। इन के अर्थ आश्रव तत्त्व मे दिये गये हैं।

वन्धन नाम कर्म—पहले ग्रहण किए हुए औदारिकादि पुद्गलो के साथ नवीन ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलो का जो कर्म सम्बन्ध कराता है वह वन्धन नाम कर्म कहलाता है।

संघातन नाम कर्म—जो—वद्ध वन्धे हुऐ पुद्गलो को शरीर के नाना प्रकार के आकारो मे व्यवस्थित अथवा परिणत करता है वह सघात नाम कर्म है।

१ **दुख**—वाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीड़ा का होना दुख है।

२ **शोक**—किसी हितैषी के सम्वन्ध के टूटने से चिन्ता और खेद होना शोक है।

३ **ताप**—अपमान से मन के कलुषित हो जाने पर जो तीव्र संताप होता है वह ताप है।

४ **आक्रन्दन**—गद् गद् स्वर से आसू गिराने के साथ रोना पीटना आक्रन्दन है।

५ **वध**— किसी के प्राण लेना है।

६ **परिदेपन**—वियुक्त व्यक्ति के गुणो का स्मरण होने से जो करुणा-जनक रुदन होता है।

७ **अनुकम्पा**—दूसरे के दुख को अपना दुख मानने का भाव ही अनुकम्पा है।

उत्थान—चेष्टाविशेष कर्म—भ्रमाणादि क्रिया, बल—शरीर सामर्थ्य, वीर्य—जीव प्रभाव, पुरुषकार—अभिमान विशेष, पराक्रम—पुरुषकार एव निष्पादित स्वविषय अर्थात् बल और वीर्य का प्रयोग या किसी वस्तुको लेने की चेष्टा उत्थान है, लेने के लिए गमनादि क्रिया कर्म है, उस क्रिया मे परिश्रम ही सामर्थ्य है आदि ।

मोक्ष तत्त्व

नववाँ

मोक्ष किसे कहते है ?

"मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग द्वारा सचित किये गए अष्टविध कर्मो से आत्मा का सर्वथा और सर्वदा के लिए विलग हो जाना—मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। अर्थात् "कृत्स्न' कर्म क्षयो मोक्ष" सम्पूर्ण कर्मो का क्षय—नाश होना ही मोक्ष है।

अथवा

ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के सहयोग से सवर एव निर्जरा की साधना से कर्म क्षय होने पर आत्मा का अपने स्वरूप मे लीन रहना मोक्ष तत्त्व का स्वरूप है।" A complite freedom of soul

मोक्ष के चार कारण है—

१ सम्यग् ज्ञान	३ सम्यग् चारित्र
२ सम्यग् दर्शन	४ सम्यग् तप †

[मोक्ष तत्त्व को भली-भाति समझने के लिए शास्त्रकारो ने एक पद्धति निश्चित की है जिसे द्वार कहते हैं। द्वार का अर्थ है प्रवेश मार्ग, वस्तु के ज्ञान के लिए उस मे प्रवेश करना होता है उस

† नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा,
एयं मग्गमणुपत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गइं ।—उत्त० २८।२।

के सम्बन्ध मे विविध प्रश्न करना ही वस्तु मे प्रवेश करना है और इसी से वस्तु का परिज्ञान होता है। ये द्वार नव हैं।]

नव द्वार नाम–

१ सत्पद प्ररूपणा द्वार	२ द्रव्य द्वार
३ क्षेत्र द्वार	४ स्पर्शन द्वार
५ काल द्वार	६ अन्तर द्वार
७ भाग द्वार	८ भाव द्वार

९ अल्प-बहुत्व द्वार*

[सत्पद प्ररूपणा द्वार नीचे लिखी १० मार्गणाओं‡ से जाना जाता है अर्थात् इस से मालूम हो सकेगा कि सत्पदरूप जो मोक्ष है उसे कौन प्राप्त कर सका है तथा उस की प्राप्ति के मुख्य साधन कौन से हैं आदि।]

दश मार्गणाए अथवा सत्पद प्ररूपणा द्वार के दश भेद है—

१ गति	२ जाति	३ काय
४ संज्ञित्व	५ भव्यत्व	६ आहारत्व
७ सम्यक्तव	८ ज्ञान	९ दर्शन

१० चरित्र।

१ चार गति में मनुष्य गति को मोक्ष प्राप्त होती है।

२ पांच जाति में पंचेन्द्रिय जाति को ,,

३ छह काया में त्रसकाय को ,,

*सत पय परूवणया, दव्व पमाणं च खित्त फुसणया, काले अ अन्तर भाग, भावे अप्पा बहु चेव। न० प्र०

‡मार्गणा के सम्बध में अंत में देखिए।

४ संज्ञी को ही ,,
५ भव्य (भवसिद्धिक) को ,,
६ अनाहारी को ही ,,
७ †पांच सम्यक्त्व मे क्षायिक सम्यक्त्व को ,,
८ पांच ज्ञान में केवल ज्ञान को ,,
९ चार दर्शन में केवल दर्शन को ,,
१० पांच चारित्र में यथाख्यात चरित्र को ,, ।

[उपर्युक्त गुणो व परिणति वाले जीव ही मोक्ष मे जा सकते है अन्य नही, क्योंकि इन मे शक्ति की पूर्णता है।]

द्रव्य द्वार—

द्रव्य से सिद्ध जीव अनन्त हैं।

क्षेत्र द्वार—

लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में सिद्ध अवस्थित हैं।

स्पर्शन द्वार—

लोक के अग्र भाग में सिद्ध विराजमान हैं।

भागद्वार—

समस्त संसारी जीवों से सिद्ध जीव अनन्त गुण अधिक हैं पर वनस्पति काय की अपेक्षा अनंत गुण न्यून (थोड़े) हैं।

काल द्वार –

एक सिद्धों की अपेक्षा सिद्ध जीव सादि-अनंत हैं और

†सम्यक्त्व की परिभाषा व भेद अन्त में देखिए।

सब सिद्धों की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि-अनंत हैं।

भाव द्वार—

सिद्ध जीवों में दो भाव होते हैं—पारिणामिक और क्षायिक।*

अन्तर द्वार—

सिद्ध-सिद्ध जीवों में कोई अन्तर नहीं है अर्थात् प्रत्येक सिद्ध जीव की केवलज्ञान तथा केवलदर्शन रूप आत्म-परिणति में कोई अन्तर नहीं होता। क्योंकि सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेने के बाद वे जीव पुनः जन्म-मरण नहीं करते अतः उन में किसी प्रकार का व्यवधान (अंतर) नहीं होता।

अल्पबहुत्व द्वार—

सब से थोड़े नपुंसक लिंग सिद्ध हैं, उससे संख्यात गुण अधिक स्त्री लिंग सिद्ध, और इनसे संख्यात गुण अधिक पुरुष लिंग सिद्ध हैं।†

[इन मे सख्या की न्यूनाधिकता का कारण मुक्त—सिद्ध होने का अन्तर है।]

जीवो सिद्ध होने का क्रम –

नपुंसक एक समय में उत्कृष्ट १० सिद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं।
स्त्री जीव एक समय में ,, २० सिद्ध होते हैं ,,
पुरुष एक समय में ,, १०८ सिद्ध होते हैं ,,

[उत्तरा० ३६]

*भावों के भेद तथा अर्थ अन्त में देखिए।

†"थोवा नपुंस सिद्धा, थी नर सिद्धा कम्मेण संखगुणा।"—नव० ५०

[सिद्ध जीवो मे किसी प्रकार का लिग आदि भेद नही है, वल्कि यहा नपु सक लिग सिद्ध आदि से अभिप्राय उस पुरुष, स्त्री नपु सक के लिग — चिन्ह (male-sex etc.) से है जिस मे रहते हुए सिद्धावस्था प्राप्त की है ।]

परिभाषा

मार्गणा—कारण कार्य विचार पूर्वक अन्वय धर्म का आलोचन। विकल्प का कारण। To think ‡जिस के द्वारा सम्पूर्ण जीव द्रव्य का विचार किया जाए उसे मार्गणा कहते हैं। ये मार्गणाए चौदह है—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान तथा सयम दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सज्ञी और आहार। इन मार्गणाओ मे से वेद, कषाय और लेश्या से युक्त जीव मोक्ष में नही जा सकता। प्रस्तुत प्रकरण मे दश मार्गणाओ के विधान का यही तात्पर्य है। इन चौदह मार्गणाओ के ६२ अवान्तर भेद होते है-गतिचार, इन्द्रिय-पाँच, काय छह, योग तीन वेद तीन, कषाय चार, ज्ञान पाँच, तीन अज्ञान, सयम पाच, दर्शन चार, लेश्या छह, भव्य और अभव्य दो सम्यक्त्व पाच, सज्ञी-असज्ञी दो, आहारक-अनाहारक दो, सयम के सात भेद मे से २ देशविरत-अविरति एव ६२।

सत्पद प्ररूपणा द्वार—मोक्ष एक पद एव शुद्ध होने से सत् स्वरूप है। क्योकि एक पदवाची पदार्थ सत् स्वरूप माने गये है अत मोक्ष भी एक पद वाच्य होने से सत् स्वरूप है किन्तु वह आकाश कुसुम वत् अविद्यमान नही है। ऐसे सत्स्वरूप मोक्ष पद की जो प्ररूपणा है वह

‡गई इंदिय काय, जोए वेए कसाय नाणे य,
सजम दसण, लेस्सा, भव्व सम्मे सन्नि आहारे।'—कर्मग्रन्थ ४

मार्गणाओ द्वारा की जाती है वह विधि सत्पद प्ररूपणा है।† अर्थात् मोक्ष (अवस्था) पहले था, अब है, आगे भी, विद्यमान रहेगा अतीत काल में जीव मुक्त सिद्ध हुए है, अब हो रहे है, आगे भी होगे आदि बतलाना हो सत्पद प्ररूपणा द्वार है।

द्रव्य द्वार—द्रव्य का अर्थ है गुण एव पर्याय से युक्त पदार्थ। जीव षड् द्रव्यो मे से एक द्रव्य है। जीवत्व तथा उपयोग वाला होने से पदार्थ है अत: इस पदार्थ-द्रव्य की सख्या की अपेक्षा सिद्ध जीवो की गणना का जिस से ज्ञान हो वह द्रव्य द्वार है।

क्षेत्र द्वार—क्षेत्र का सामान्य अर्थ स्थान विशेष ही है पर यहाँ वस्तु प्रदेश से अभिप्राय है अर्थात् द्रव्य के प्रदेशो को क्षेत्र कहते है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य अपने प्रदेशो मे रहता है अन्य प्रदेशो मे नही।

व्यवहार की अपेक्षा वस्तु के आधार भूत आकाश-प्रदेश, (Space-point) जिसे वह अवगाहती है, रोकती है, क्षेत्र कहलाता है। अत सिद्ध जीव कहा कितने आकाश-प्रदेशो को अवगाहता है यह बतना ही क्षेत्र द्वार है।

स्पर्शन द्वार—स्पर्शन से अभिप्राय छूने (Touching) से है, तो सिद्ध जीव कितने क्षेत्र का स्पर्श करते है यह बतलाने वाला स्पर्शन द्वार है।

काल द्वार—जो वस्तु की परिवर्तित (बदली हुई) अवस्था का जो सापेक्ष ज्ञान कराए वह काल-द्वार है। यो तो काल का अर्थ समय (Time) है, वस्तु का परिणमन—नाना रूपो मे विलीन

†संत सुद्ध पयत्ता, विज्जतं ख कुसुम व्व न असत।
मुक्खत्ति पयं तस्स उ, परूवणा मग्गणाः हिं ॥—नव० प्र०।

होना, विना काल के नही होता, जीवो के सिद्ध होने के समय की गणना रखना काल द्वार का कार्य है।

भाग द्वार—भाग का सामान्य अर्थ वस्तु का हिस्सा होता है, किन्तु यहाँ अनन्त जीव द्रव्य मे नाना जीवो की अपेक्षा सिद्ध जीव किस भाग मे आते है एक भाग, दो भाग पत्र अथवा सख्येय भाग, असख्येयवे भाग अथवा अनतवे भाग कम या अधिक ह, अर्थ लिया गया है।

भाव द्वार—वस्तु के स्वभाव या गुण को भाव कहते है अथवा वस्तु का आन्तरिक स्वरूप भाव कहलाता है। सिद्ध जीवो मे रहे भावो का ज्ञान कराने वाला तत्त्व भाव द्वार है। अथवा जीव–आत्मा की पर्यायावस्था भाव है।

अन्तरद्वार—समान धर्म–गुण-स्वभाव वाली दो वस्तु मे अवस्था, गुण आदि का अन्तर (फरक) Difference पड जाना, जिससे उन दोनो वस्तुओ मे अन्तर दिखाई पडे अथवा कार्य मे होते हुए व्यवधान–रुकावट पड जाना अन्तर कहलाता है तथा यह जो स्पष्ट करता है उसे अन्तर द्वार कहते है।

अल्प-बहुत्व द्वार—अपेक्षा कृत वस्तु की न्यूनाधिकता—कम-ज्यादा होना अल्प-बहुत्व है तथा कौन किससे अल्प है बहुत है, का ज्ञान कराने वाली तत्त्व रीति अल्प-बहुत्व द्वार है।

ये नव द्वार है जिसके द्वारा सिद्धावस्था का पूरा ज्ञान होता है।

सिद्ध—ज्ञानवरण आदि अष्टविध कर्मो का क्षय करके मोक्ष मे जाने वाले जीव। अर्थात् जिन्होने सिद्धगति स्थान को प्राप्त कर लिया है, आत्म-सिद्धि प्राप्त हो गई है जिन्हे ऐसे जीव सिद्ध

कहे जाते है। अथवा सर्व कर्म विमुक्त आत्मा सिद्ध नाम से पुकारा जाता है।

जीव पन्द्रह प्रकार से सिद्ध होते है, सिद्धि मार्ग तो एक ही है किन्तु साधनावस्था, वेष, उपासना भेद आदि से सिद्ध १५ प्रकार के है अन्यथा सिद्ध-अवस्था मे कोई अन्तर नही है —

सिद्धो के पन्द्रह भेद —

१ **तीर्थ सिद्ध**—तीर्थ की स्थापना के बाद अर्थात् तीर्थ मे जो सिद्ध हुए है वे तीर्थ† सिद्ध है।

२ **अतीर्थ सिद्ध**—तीर्थ की स्थापना से पूर्व अथवा तीर्थ के विच्छेद होने पर यानि अतीर्थावस्था मे मुक्त होने वाले जीव अतीर्थ सिद्ध हैं, जैसे, माता मरुदेवी आदि।

३ **तीर्थंकर सिद्ध**—तीर्थंकर पद प्राप्त करके जिन्होने मुक्ति प्राप्त की है वे तीर्थंकर सिद्ध है, जैसे, चौबीस तीर्थंकर देव।

४ **अतीर्थंकर सिद्ध**—तीर्थंकर पद के बिना सिद्ध होने वाले जीव, सामान्य केवली, गौतम स्वामी आदि।

५ **स्वयंबुद्ध सिद्ध**—दूसरे के बिना उपदेश से ज्ञान होने पर जो सिद्ध हुए है, अथवा स्वय ही अपने जीवन का मार्ग दर्शन करके जो सिद्ध हुए है वे स्वय बुद्ध सिद्ध है। कपिल केवली आदि।

६ **प्रत्येक बुद्ध सिद्ध**—किसी अनित्य पदार्थ को देखकर, अवस्थादि से प्रेरित होकर जो ज्ञानी बने और मुक्त हुए है। जैसे, नमिराजर्षि,

७ **बुद्धबोधित सिद्ध**—तीर्थंकर, गणधर, गुरु आदि से बोध पाकर सिद्ध होने वाले जीव। जम्बू कुमार आदि।

---

†तीर्थ का अर्थ है श्रुत-चारित्र रूप धर्म, जिस की प्ररूपणा तीर्थंकर करते हैं

८ स्त्री लिंग सिद्ध—स्त्री वेष—शरीर मे रहते हुए सिद्ध होना स्त्री लिंग सिद्ध है। जैसे, चन्दनबाला आदि।

९ पुरुष लिंग सिद्ध—पुरुष वेप मे रहते हुए जीव का सिद्ध होना पुरुष लिग सिद्ध है। जैसे, गजसुकुमार आदि।

१० नपुंसक लिंग सिद्ध—नपुसक अवस्था मे सिद्ध होना। जेसे, गांगेय कुमार।

११ स्वलिंग सिद्ध—शास्त्रोक्त वेप मे रहते हुए जो सिद्ध हुए है। जैसे, जैन साधु।

१२ अन्यलिंगसिद्ध—अन्य लिग मे जो सन्यासी वल्कल चीरी, सिद्ध हुए है। जैसे अम्बड सन्यासी आदि।

१३ गृहलिंगसिद्ध—गृहस्थ वेष मे जो मुक्त हुए है। जैसे, भरतचक्री।

१४ एक सिद्ध—एक समय मे एक ही जीव मोक्ष जाने वाला एक सिद्ध है। जैसे, भगवान महावीर आदि।

१५ अनेक सिद्ध—एक समय मे अनेक जीव मुक्त हुए वे अनेक सिद्ध कहलाते है। जैसे, भगवान आदिनाथ आदि।

सम्यक्त्व—तत्त्व के प्रति सम्यग् अभिरुचि—श्रद्धान ही (Righteousness) सम्यक्त्व है। अथवा जो वस्तु जिस रूप मे है उसे उसी रूप मे स्वीकार करना श्रद्धा है। अवस्था आदि के भेद से यह पाच प्रकार की है—

१ उपशम सम्यक्त्व—अनन्तानुवधी चार कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय कम की उपशाति से आत्मा मे तत्त्व के प्रति प्रकट होने वाला परिणाम उपशम सम्यक्त्व है।

इस परिणाम की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है यह एक भव मे जघन्य एक बार, उत्कृष्ट पाच बार प्राप्त हो सकती है।

२ सास्वादन सम्यक्त्व—औपशमिक सम्यक्त्व को छोड कर जीव जब पुन मिथ्यात्व की ओर अग्रसर होना है, झुकता है, ऐसे समय मे जीव के जो परिणाम होते है वह सास्वादन सम्यक्त्व है। यह अवस्था ऐसी होती है जैसे किसी व्यक्ति को स्वादु भोजन कर लेने के बाद वमन आ गई हो और, फिर भी उसका आस्वाद (Taste) स्मरण ही रहता है किन्तु वर्तमान वमन क्रिया ने मुख को अस्वाद भी कर दिया होता है।

इस सम्यक्त्व मे अतत्त्व रुचि अव्यक्त—अप्रगट होती है और मिथ्यात्व मे वह प्रकट होती है यही मिथ्यात्व एव सास्वादन मे अन्तर है।

इस परिणाम की स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छह आवलिकाएं† प्रमाण होती है। इस मे अन्तर पडे तो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन का होता है। यह एक भव मे जघन्य एक बार और उत्कृष्ट दो बार तथा अनेको भवो मे जघन्य एक बार उत्कृष्ट पाच बार आती है।

३ क्षयोपशमिक—अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय—नाश, उपशम-शांत होने पर होने वाला परिणाम क्षयोपशमिक सम्यक्त्व है। उपशम से इसमे अधिक विशुद्धि है।

इसका कालमान जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उ० ६६ सागरोपम है। अन्तर पडे तो ज० अन्तर्मुहूर्त, उ० अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल है।

---

†असख्यात समय की एक आवलिका होती है तथा १६,७७,२१६ आवलिकाओं का एक मुहूर्त होता है।

एक भव ज० एक बार उ० प्रत्येक हजार बार* आ सकती है।

४ क्षायिक सम्यक्त्व—पूर्वोक्त कर्म प्रकृतियो के क्षय होने पर पर उत्पन्न होने वाला तत्त्व के प्रति विशुद्ध परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व है।

यह मोक्ष का प्रमाण पत्र है। जो जीव इसे आयु कर्म के बन्धन कर लेने के बाद प्राप्त करने है अर्थात् परिणाम उत्पन्न होते है वे तीसरे अथवा चौथे भव मे मोक्ष जाते है तथा जो आगामी भव की आयु से पहले ही प्राप्त कर लेते है वे उसी जन्म मे ही मुक्त हो जाते है। इसलिए यह सम्यक्त्व सादि है, इस मे अन्तर नही पडता। यह जीवन मे एक बार आता है और सदा बना रहता है।

५ वेदक सम्यक्त्व—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के पुज का अधिकांश भाग क्षय कर के जब इस के आखिरी पुद्गलो का वेदन करता है, उस समय के आत्म-परिणाम वेदक सम्यक्त्व कहलाते है। अथवा यो कहे कि क्षायिक सम्यक्त्व होने से पूर्व ठीक अव्यवहित प्रथम क्षण मे होने वाले क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी के परिणाम ही वेदक सम्यक्त्व है। इस की स्थिति ज० उ० एक समय की है। इस मे किसी प्रकार का व्यवधान नही पडता। वेदक सम्यक्त्व वाला जीव निश्चय ही क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। यह भी जीवन मे एक ही बार आती है।

भाव—आत्मा के सभी पर्याय एक ही अवस्था वाले नही पाये जाते, कुछ पर्याय किसी एक अवस्था मे, तो दूसरे कुछ पर्याय किसी दूसरी अवस्था मे पाये जाते हैं। पर्यायो की भिन्न २ अवस्थाए भाव

*एक से नव की सख्या की 'प्रत्येक' सज्ञा है।

कहलाती है। आत्मा के पर्याय अधिक से अधिक पाँच भाव वाले हो सकते हैं।

वे पाँच भाव ये हैं— १ औपशमिक २ क्षायिक ३ क्षायोपशमिक, ४ औदायिक और ५ पारिणामिक।

१ औपशमिक भाव वह है जो कर्म के उपशम से पैदा होता हो। उपशम एक,प्रकार की आत्म शुद्धि है, जो सत्तागत कर्म का उदय विल्कुल रुक जान पर वैसे हा होनी है जैसे मल नीचे वैठ जाने पर जल मे स्वच्छता होती है। जैसे, सम्यक्त्व, चारित्र।

२ क्षायिक भाव वह है जो क्षय मे पैदा होता हो। क्षय आत्मा की वह परम विशुद्धि है, जो कर्म का सम्वन्ध विलकुल छूट जाने पर वैसे ही प्रकट होती है जैसे सर्वथा मल निकाल देने पर जल मे स्वच्छता आती है। केवल ज्ञान, केवल दर्शन, लब्धि, चारित्र आदि।

३. क्षायोपशमिक भाव वह है जो कर्म के क्षय और उपशम से पैदा होता हो। क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जो कर्म के एक अश का प्रदेशोदय द्वारा क्षय होने पर प्रकट होती है। वह विशुद्धि वैसे ही मिश्रित जैसे धोने से मादक शक्ति के क्षीण हो जाने और कुछ रह जाने पर कोदो की शुद्धि। ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व चारित्र आदि।

४ औदयिक भाव वह है जो कर्म के उदय से पैदा होता हो। उदय एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य–मालिन्य है, जो कर्म के विपाकानुभव से वैसे ही होता है जैसे मल के मिल जाने पर जल मे मालिन्य होता है। गति, कषाय, लिग, लेश्या, अज्ञान, असयम आदि।

५. पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है, जो सिफ द्रव्य के अस्तित्व से आप ही आप हुआ करता है अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव कहलाता है। जैसे, जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि सवर द्वारा नवीन कर्मो का आगमन रुकता है तथा निर्जरा से पूर्वबद्ध कर्म नष्ट होते है। हाँ, तो इस निर्जरा-क्रिया के द्वारा जब समस्त कर्म क्षय दशा को प्राप्त हो जाते है तो आत्मा सर्वथा निष्कर्म दशा को प्राप्त हो जाता है। कर्म अभाव की अवस्था मे वह स्वभाव मे विचरण करता है. कर्म जनित जन्म मरण आदि उपाधियाँ भी सर्वथा के लिये नष्ट हो जाती है।

इस समय आत्मा अशरीरी, अनिन्द्रिय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त २ शक्तियो से युक्त होता है। वह पुन जन्म-मरण के चक्र मे नही आता क्योंकि कर्म कर्म से उत्पन्न होते है जब कारण का ही अस्तित्व नही तो कार्य का सम्पादन ही कैसे हो ? अत वह आश्रव और बन्ध से सर्वथा सर्वदा मुक्त ही रहता है।

आत्मा अग्नि शिखा तथा तूंबे की भाँति अर्ध्वगति शील है। जैसे कि मिट्टी से लिप्त हुआ तूम्ब जल मे नीचे की ओर चला जाता है किन्तु जब वही उस से निर्लिप्त हो जाता है तो पानी की सतह पर आ जाता है इसी प्रकार कर्म से लिप्त आत्मा ससार मे भ्रमण करता रहता है और निर्मुक्त होने पर ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे अग्निशिखा ऊचाई की ओर ही जाती है।

किन्तु मात्र लोकाकाश तक ही ऊर्ध्वगमन करता है इस से परे अलोक क आ जाने पर 'धर्म द्रव्य' Medium of motion. के न होने पर नहीं जा सकता। लोक के अग्रभाग यानि लोकान्त मे स्थित हो जाता है।

इसी स्थिति स्थान को मोक्षशिला, सिद्ध शिला शिवपुर आदि कह कर पुकारा जाता है। शास्त्रीय'नाम ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी है भी।

परिशिष्ट

आगम व्यवहार—केवल ज्ञान. मन. पर्यय ज्ञान, अवधि ज्ञान, चौदह - पूर्व, और नव पूर्व का ज्ञान आगम कहलाता है। आगम ज्ञान से प्रवर्तित प्रवृत्ति रूप व्यवहार आगम व्यवहार कहलाता है।

श्रुत व्यवहार—आचार प्रकल्प आदि ज्ञान श्रत है। इस से प्रवर्त्ताया जाने वाला व्यवहार श्रुत व्यवहार कहलाता है। नव, दश, और चौदह पूर्व का ज्ञान भी श्रुत रूप है परन्तु अतीन्द्रिय अर्थ विषयक विशिष्ट ज्ञान का कारण होने से उक्त ज्ञान अतिशय वाला है और इसी लिए वह आगम रूप माना गया है।

आज्ञा व्यवहार—दो गीतार्थ साधू एक दूसरे से अलग दूर देश मे रहे हुए हो और शरीर क्षीण हो जाने से वे विहार करने मे असमर्थ हो। उन मे से किसी एक को प्रायश्चित आने पर वह मुनि योग्य गीतार्थ शिष्य के अभाव मे मति और धारणा मे अकुशल अगीतार्थ शिष्य को आगम की सांकेतिक गूढ भाषा में अपने अतिचार दोप कह कर वा लिख कर उसे अन्य गीतार्थ मुनि के पास भेजता है और उस के द्वारा आलोचना करता है। गूढ भाषा मे कही हुई आलोचना सुनकर वे गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सहनन, धैर्य्य, बल आदि का विचार कर स्वय वहा आते हैं। अथवा योग्य गीतार्थ शिष्य को समझा कर भेजते है। यदि वैसे शिष्य का भी उन के पास योग न हो तो आलोचना का सदेश लाने वाले के द्वारा ही गूढ अर्थ मे अतिचार की शुद्धि अर्थात् प्रायश्चित देते है यह आज्ञा व्यवहार है।

धारणा व्यवहार—किसी गीतार्थ सविग्न मुनि ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा जिस अपराध मे जो प्रायश्चित दिया है। उस की धारणा से वैसे अपराध मे उसी प्रायश्चित का प्रयोग करना धारणा व्यवहार है।

वैयावृत्य करने आदि से जो साधू गच्छ का उपकारी हो।

वह यदि सम्पूर्ण छेद सूत्र सिखाने योग्य न हो तो उसे गुरु महाराज कृपापूर्वक उचित प्रायश्चित पदो का कथन करते है। उक्त साधु का गुरू महाराज से कहे हुए उन प्रायश्चित पदो का धारण करना धारणा व्यवहार है।

जीत व्यवहार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव पुरुष, प्रतिसेवना का और सहनन धृति आदि की हानि का विचार कर जो प्रायश्चित दिया जाता है वह जीत व्यवहार है।

अथवा

किसी गच्छ मे कारण विशेष से सूत्र से अधिक प्रायश्चित की प्रवृत्ति हुई हो और दूसरो ने उस का अनुकरण कर लिया हो तो वह प्रायश्चित जीव व्यवहार कहा जाता है।

अथवा

अनेक गीतार्थ मुनियो द्वारा की हुई मर्यादा का प्रपादन करने वाला ग्रन्थ जीत कहलाता है। उन से प्रवर्तित व्यवहार जीत व्यवहार है।

इन पाँच व्यवहारो मे यदि व्यवहर्त्ता के पास आगम हो तो उसे आगम से व्यवहार चलाना चाहिये। आगम मे भी केवल ज्ञान, मन पर्याय, ज्ञान आदि छ भेद हैं। इन मे पहले केवल ज्ञान आदि के होते हुए उन्हो से व्यवहार चलाया जाना चाहिये। पिछले मन पर्याय ज्ञान आदि से नही। आगम के अभाव मे श्रुत से, श्रुत के अभाव मे आज्ञा से, आज्ञा के अभाव मे धारणा से और धारणा के अभाव मे जीत व्यवहार से- प्रवृत्ति रूप व्यवहार का प्रयोग होना चाहिये। देश काल के अनुसार ऊपर कहे अनुसार सम्यक् रूपेण पक्षपात रहित व्यवहारो का प्रयोग करता हुआ साधु भगवान् की आज्ञा का आराधक होता है। (सिद्धान्त बोल सग्रह से उद्धृत)